भागवत धर्म का प्राचीन इतिहास

मूल लेखक
श्रीमत् स्वामी विद्यारण्य

पं॰ देवीदत्त शुक्ल स्मारक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
प्रयाग-६

भागवत-धर्म के प्राचीन इतिहास के महान् शोध-कर्त्ता

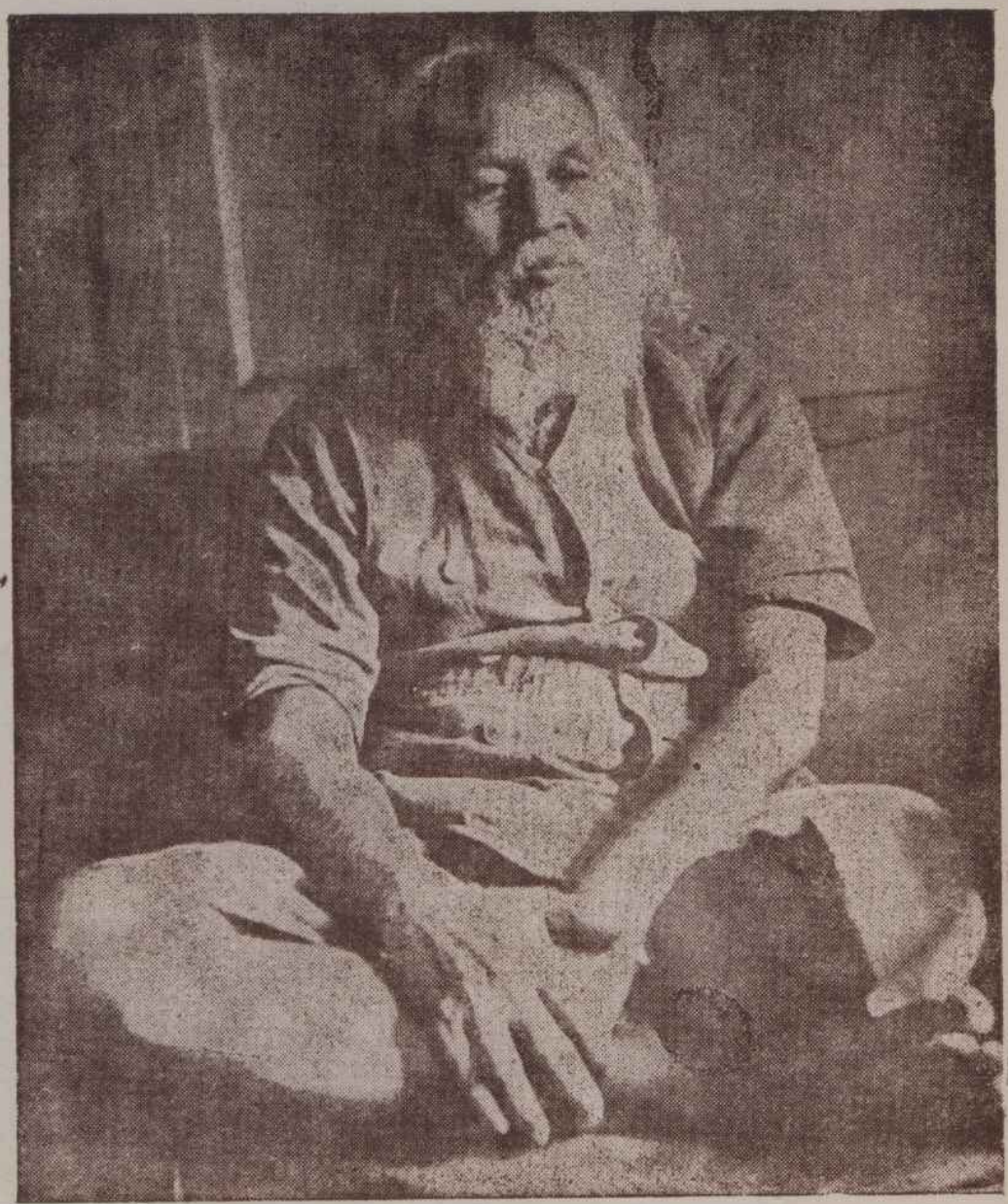

ब्रह्मीभूत पूज्य श्री स्वामी विद्यारण्य जी

भागवत धर्म का प्राचीन इतिहास

[प्रथम खण्ड : पहला अध्याय]

मूल लेखक

श्रीमत् स्वामी विद्यारण्य

पूर्वाश्रम में

डाक्टर विभूतिभूषण दत्त, एम० एस-सी०, पी० आर० एस०, डी० एस-सी०

* * *

अनुवादक

श्री रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

सम्पादक 'चण्डी' एवं 'सम्पादक की वाणी'

* * *

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

प्रयाग—६

प्रकाशक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग मार्ग
प्रयाग (उ० प्र०)—२११००६

विभूति-भूषण-वन्दनम्

जगज्जनैक-भूषणं तमो-विनाश-भूषणं, समग्र-भूत-तोषणं त्रिताप-मूल-शोषणम् ।
शिवं श्मशान-वासिनं रवीन्दु-वह्नि-लोचनं, विमुक्त-भोग-वासनं भजे विभूति-भूषणम् ।।

मूल्य १५-०० रु०

प्रथम संस्करण : : दीपावली, २०४५ : : ६ नवम्बर, १९८८

मुद्रक
परा वाणी प्रेस
अलोपीबाग मार्ग
इलाहाबाद—६

अनुक्रमणिका

दो शब्द पाँच
अभूतपूर्व शोधात्मक इतिहास के प्रणेता : पूज्य श्रीस्वामी विद्यारण्य आठ
विशिष्ट शब्द-कोष ग्यारह
प्रथम अध्याय में उल्लिखित ऋषि, आचार्य और विद्वान् पन्द्रह
१–भागवत-धर्म-समूह १-२
[जिज्ञासा १, भागवत धर्म के वक्ता कौन ? २]
२–'भागवत'-शब्द का अर्थ २-३
['भागवत'-शब्द विशेष्य और विशेषण दोनों २]
३–'भग'-शब्द का अर्थ ३-१३
[यास्क की व्याख्या ३, शिव-पुराणादि, तैत्तिरीय ब्राह्मण और महा-भारत के मत ४, 'द्रव्य' और 'गुण' के अर्थ में, 'धातु' के अनुसार ५, महा-भारत, पुराणों, पाञ्च-रात्र और अहिर्बुध्न्य संहिता के मत ६, व्याकरण शास्त्र के अनुसार ७, श्रुति का मत ८, बादरायण के ब्रह्म-सूत्र में ९, पुराणों और 'स्पन्द-प्रदोपिका' में १०, श्वेताश्वतर उपनिषद् में ११, विष्णु-धर्मोत्तर, देवी-भागवत और ब्रह्म-वैवर्त पुराण में १२, अथर्व-वेद और तैत्तिरीय उपनिषद् में १२, कपिञ्जल-संहिता का मत १३]
४–'भागवत', 'भगवान्' और 'महा-भागवत' १३-२२
['भागवत' आदि संज्ञायें १३, शिला-लेखों के अनुसार १४, मुक्तिकोपनिषद् और वराह पुराण में १४, भगवान् पतञ्जलि का मत १४, नारद पुराण और स्कन्द-पुराणादि में 'भागवतोत्तम' १५, वराह मिहिर, आचार्य यादव प्रकाश और उत्पल भट्ट के मत १७, ब्रह्म-पद्म-गरुड़ आदि पुराणों और पाद्म तथा परम संहिता के मत १८, 'भागवत' संज्ञा का अर्थ-सङ्कोच १९, वृद्ध गौतम संहिता का मत १९, वैखानस मत के अनुयायियों के अनुसार २०, वृद्ध हारीत स्मृति का मत २१, अप्पय दीक्षित के अनुसार 'विष्णु भागवत' २२]
५–पाञ्चरात्र, एकान्त, एकायन, परमैकान्तिक और सात्वत धर्म २३-४०
['वैष्णव'-शब्द की व्याख्या २३, जयाख्य संहिता का मत २४, नारायणीयाख्यान में पञ्चरात्र' २५, भागवत धर्म ही पाञ्चरात्र धर्म २५, वही एकान्त-धर्म या सात्वत धर्म २५, पाद्म-संहिता का मत २५, एकान्त, एकायन, एकान्ती आदि की व्याख्या २६, भागवत-धर्मियों की पाँच श्रेणियाँ २७, रामानुज-प्रवर्तित परमैकान्तिक धर्म २८, महा-भारत में एकायन पन्था ३२, अष्टाङ्गिक, सत्तिपट्ठान और सद्धा ३३, भगवद्-आराधना–पञ्च काल ३५, भगवद्-याग–आठ अङ्ग ३५, पञ्च-काल की व्याख्या ३५, पौष्कर और परम संहिता आदि के मत ३७, श्री प्रश्न और ईश्वर-संहिता के मत ३९, ब्रह्म-पुराण में 'रात्र'-शब्द की व्याख्या ४२, पञ्च-विध रात्र या पञ्च-ज्ञान ४०]

६–'पाञ्चरात्र' और 'रात्रि'-शब्द की व्याख्या ४१-४८

[आचार्य रामानुज, बाल गङ्गाधर तिलक आदि के मत ४१, शाण्डिल्य संहिता, शक्ति-सङ्गम-तन्त्र के मत ४१, नीलकण्ठ और डा० स्नेडार के मत ४२, अहिर्बुध्न्य संहिता, तत्त्व-त्रय और शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार ४३, महा-महोपाध्याय पं० गङ्गानाथ झा का मत ४३, पाञ्चरात्र शास्त्र और पञ्चरात्र धर्म ४४, पञ्च-रात्रि की घटना ४४, ताण्डय महा-ब्राह्मण में 'रात्रि'-शब्द और सायण द्वारा उसकी व्याख्या ४५, ऋग्वेद में रात्रि देवता और 'रात्रि-सूक्त' ४६, साम-विधान-ब्राह्मण में रात्रि-देवता की उपासना ४६, निघण्टु में 'रात्रि' के २३ नाम, अहिर्बुध्न्य संहिता में वासुदेव-रात्रि ४८]

७–शक्ति और शक्ति-मान् की पाँच दशायें ४९-५०

[शक्ति की पञ्चमी दशा ४९, वासुदेव की पाँच अवस्थायें ही 'पञ्च-रात्रि' ५०, पाद्म संहिता और विष्वक्-सेन संहिता के मत ५०]

८–सात्वत धर्म ५१-५७

['नारायणीयाख्यान' का मत ५१, ग्रियर्सन, भाण्डारकर और बाल गङ्गाधर तिलक के मत ५२, महाभारत और वैशम्पायन के मत ५३, पद्म पुराण और जयाख्य संहिता के मत ५४, आचार्य यामुन, पुरुषोत्तम-संहिता और विष्णु-संहिता के मत ५६, कूर्म, हरिवंश और वराह पुराण के मत ५७]

९–नारायण धर्म या नारायणीय धर्म ५७-५८

[महा-भारत एवं (विष्णु) भागवत पुराण के मत ५७, लिङ्ग-पुराण का मत ५८]

१०–सनातन धर्म ५८

[भागवत पुराण, महा-भारत और वैशम्पायन के मत ५८]

११–भागवत धर्म के विभिन्न नाम और इतिहासकार ५९-६१

[गार्वे और ग्रियर्सन के मत ५९, लोक-मान्य तिलक का मत ६०, रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का मत ६१]

१२–विविध मतों का समाधान ६१

१३–परिशिष्ट : उद्धृत ग्रन्थों की तालिका ६२

वङ्ग-भाषा का मैं विशेष ज्ञाता नहीं हूँ। हाँ, दैवयोग से सन् १९४० से ४४ तक प्रयाग के 'कर्नलगंज हाईस्कूल' (अधुना कालेज) में कक्षा ७ से १० तक पढ़ते समय इस बहुमूल्य भाषा के सम्पर्क में आने का सौभाग्य अवश्य मिला था क्योंकि प्रधानाचार्य बंगाली थे, अधिकांश अध्यापक बंगाली थे, और छात्रों में भी बंगाली बालकों की ही अधिकता थी। स्वभावतः स्कूल के वाचनालय में वङ्ग-भाषा के ही समाचार-पत्र-पत्रिकाओं का बाहुल्य रहता था और हिन्दी-भाषी सहपाठियों के अभाव में जब कभी अवकाश रहता, मुझे वाचनालय में ही समय काटना पड़ता था। उस समय, एक प्रकार से बाध्य होकर, मुझे उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं से अपना मन बहलाना होता था। वंगाक्षरों और देव-नागरी के अक्षरों में साम्य होने के कारण मेरी उत्सुकता बढ़ती गई और धीरे-धीरे मैं बँगला पढ़ने और समझने लगा क्योंकि बँगला भाषा के शब्द और वाक्य-विन्यास भी हिन्दी से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। बाद में अपने पूज्य पिताश्री 'कौल-कल्पतरु' पंडित देवीदत्त जी शुक्ल द्वारा प्रवर्तित 'चण्डी' पत्रिका और 'कल्याण मन्दिर' द्वारा प्रकाशित तन्त्र एवं शाक्तधर्म-सम्बन्धित पुस्तकों का कार्य करने में वंग-भाषा के उक्त सामान्य ज्ञान से मुझे बड़ी सहायता मिली।

मेरे शिक्षा-गुरु श्रद्धेय डा० कृपाशंकर जी शुक्ल (लखनऊ, उत्तर प्रदेश) ने 'प्राच्य वाणी मन्दिर' कलकत्ता द्वारा प्रकाशित **'भागवत-धर्मेर प्राचीन इतिहास'** ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद करने के लिए सम्मान्य श्री सुकोमल दत्त जी को मुझसे सम्पर्क करने की सलाह दी और उन्होंने इतनी आत्मीयता के साथ मुझसे अनुरोध किया कि मैं अस्वीकार न कर सका। ग्रन्थ और ग्रन्थ-कर्ता के शुभ नामों ने भी मुझे आकर्षित किया किन्तु जब मेरे पास मूल ग्रन्थ आ पहुँचा, तब उसके आकार और विषय की गूढ़ता देखकर मुझे सन्देह हुआ कि वंग-भाषा के अपने सामान्य ज्ञान के बल पर मैं कदाचित् इस कार्य को समुचित रूप से न कर पाऊँ। अतः मैंने प्रारम्भिक कुछ पृष्ठों का अनुवाद कर श्री दत्तजी की सेवा में अवलोकनार्थ भेजा किन्तु मेरी आशंका के विपरीत उन्होंने अनुवाद पसन्द कर लिया। फिर भी मैंने इस दायित्व को टालना चाहा क्योंकि 'चण्डी' और 'कल्याण मन्दिर प्रकाशन' के कार्य में मैं इतना अधिक व्यस्त था कि इतने बड़े ग्रन्थ का अनुवाद करने के लिए मैं समय कैसे दे पाऊँगा, यह दूसरी बड़ी जटिल समस्या मेरे सामने थी किन्तु सम्मान्य श्री दत्त जी के आत्मीयतापूर्ण और उदार अनुरोध के आगे मुझे झुकना ही पड़ा।

मुझे इस बात का हार्दिक दुःख है कि मैं उदार-मना श्री दत्त जी की अपूर्व आत्मीयता और सहृदयता के योग्य अपने को सिद्ध नहीं कर पाया। जिस रूप में वे इस हिन्दी-रूपान्तर को प्रकाशित होते देखना चाहते थे, वैसा प्रयत्न करके भी मैं नहीं कर पाया। तथापि मुझे इस बात का सन्तोष है कि आज हिन्दी में परम पूज्य प्रात:-स्मरणीय स्व० स्वामी विद्यारण्य जी महाराज के अद्वितीय ग्रन्थ के पहले अध्याय का यह हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित होकर जनता के समक्ष आ रहा है। आशा है कि इस ग्रन्थ के अगले अध्याय भी हिन्दी में यथा-शीघ्र प्रकाशित हो सकेंगे और एक दिन पूरा ग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध होकर आध्यात्मिक जगत् को कृतार्थ करेगा।

प्रस्तुत प्रथम अध्याय में **'भागवत धर्म'** के प्रवर्तक, उसके विविध नामकरण और नामार्थ के सम्बन्ध में विशद तथा प्रामाणिक विवेचन किया गया है, जो अभूतपूर्व है। 'अनुक्रमणिका' में उल्लिखित १२ विषयों का परिचय ही यदि ध्यान से पढ़ा जाय, तो पता चलता है कि कितनी गहराई से पूज्य स्वामी जी द्वारा 'भागवत धर्म' पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि यही धर्म **'सनातन धर्म'** नाम से सारे भारत में विख्यात है। अतः इस ग्रन्थ को यदि **'सनातन धर्म का प्राचीन इतिहास'** कहा जाय, तो उचित ही होगा।

इस एक अध्याय के ही लिखने में लगभग डेढ़ सौ ग्रन्थों का उपयोग पूज्य स्वामी जी द्वारा किया गया है। इन ग्रन्थों की सूची अकारादि-क्रम से पृष्ठ ६२ पर दी गई है। ५० से अधिक आध्यात्मिक विशिष्ट शब्दों की व्याख्या इस शोधात्मक प्रबन्ध में हुई है, जिनका विवरण अकारादि-क्रम से पृष्ठ ग्यारह पर दिया गया है। लगभग ७० ऋषियों, आचार्यों और विद्वानों के कथन प्रमाण-स्वरूप इसमें उद्धृत किए गये हैं। इनके भी नाम अकारादि-क्रम से पृष्ठ पन्द्रह पर उल्लिखित हैं। इस सबसे इस अध्याय के अनुपम महत्त्व का ही प्रतिपादन होता है।

परम पूज्य श्री विद्यारण्य जी महाराज का शुभ नाम भी अपनी विशेषता रखता है। १४वीं शताब्दी में विजयनगर राज्य के प्रसिद्ध प्रधानमन्त्री श्री सायणाचार्य ने भी इसी नाम से ख्याति प्राप्त की थी। आदि जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य के ८ वें गृहस्थ शिष्य श्री लक्ष्मण वृद्धावस्था में संन्यासी हो गए थे। वे श्रीविद्या के सिद्ध उपासक थे और 'श्री विद्यारण्य' नाम से ही प्रसिद्ध थे। तीर्थों का पर्यटन करते-करते वे प्रौढ़ देव के राज्य में पहुँचे थे और राज्य के उत्तराधिकारी के शैशवावस्था में होने के कारण प्रजा के अनुरोध पर उस राज्य का कार्य-भार सँभाला था। 'श्री विद्यानगर' नाम से उन्होंने एक नगर की स्थापना की थी। उन्हीं का लिखा हुआ 'श्री श्रीविद्यार्णव तन्त्र' आज भी श्रीविद्योपासकों में अति लोक-प्रिय है। ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उनका समय माना गया है। इधर 'चण्डी-कार्यालय' के सम्पर्क में भी इसी शुभ नाम से विभूषित एक निःस्पृह महात्मा हो गए हैं, जिन्होंने 'यति-दण्डैश्वर्य-विधान', 'सम्पूर्ण श्रीदुर्गा-सप्तशती' (१००

श्लोकों वाली) और कितने ही लुप्त-प्राय तन्त्र-मन्त्र-रहस्यों का शोध करके अमरत्व प्राप्त किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री विभूतिभूषण दत्त ने परम्परागत सिद्ध नाम 'श्री विद्यारण्य' को अपना कर उसे चरितार्थ ही किया है।

उक्त दिव्य विभूतियों की ही अहैतुकी एवं असीम दिव्य कृपा का ही यह फल है कि मुझ जैसा अल्पज्ञ इस अनूठी कृति के हिन्दी-रूपान्तर का महत् कार्य प्रारम्भ कर सका है और आशा है कि उन्हीं के शुभाशीष से यह पूर्ण भी हो सकेगा। परम पूज्य श्री विद्यारण्य जी महाराज को शत-शत नमन।

९-११-१९८८ —रमादत्त शुक्ल

प्रयाग, दीपावली, सम्वत् २०४५.

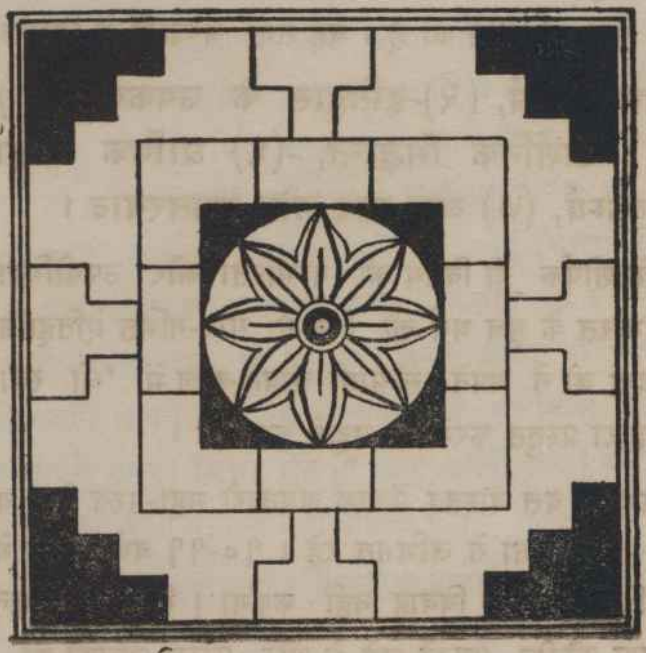

अभूतपूर्व शोधात्मक इतिहास के प्रणेता

पूज्य श्री स्वामी विद्यारण्य

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रणेता ब्रह्मीभूत पूज्य श्री स्वामी विद्यारण्य जी महाराज का जन्म सन् १८८८ ई० में वङ्ग प्रदेश के चट्टग्राम जनपद के कानूनगोय-पाड़ा ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिताजी श्री रसिकचन्द्र दत्त निर्धन होते हुए भी अत्यन्त निर्लोभ, सत्य-निष्ठ और धर्म-भीरु पुरुष थे। उसी प्रकार आपकी पूजनीया माता श्रीमती मुक्तकेशी दत्त भी उन्हीं के अनुरूप अत्यन्त तेजस्विनी और दयावती महिला थीं। ऐसे योग्य माता-पिता से न केवल शारीरिक उज्ज्वल और गौर-वर्ण ही आपको मिला था, अपितु उनकी ही जैसी तीक्ष्ण मेधा और स्मृति-शक्ति भी आपको प्राप्त हुई थी।

आपका शुभ नाम 'श्री विभूतिभूषण दत्त' रखा गया था और अपने कृतित्व से आपने उसे सार्थक कर दिखाया। स्वामी विद्यारण्य के नाम से प्रख्यात आप देश की एक 'विभूति' ही रहे। आपकी केवल एक ही कृति **'भागवत धर्म का प्राचीन इतिहास'** इस तथ्य की पुष्टि हेतु पर्याप्त है। यह अभूतपूर्व ग्रन्थ चार खण्डों में विस्तृत है। प्रथम खण्ड लगभग सवा चार सौ पृष्ठों का है। वह सात अध्यायों में विभक्त है—

(१) भागवत धर्म, (२) इतिहास के उपकरण, (३) भागवत धर्म का प्रवर्तन, (४) दार्शनिक सिद्धान्त, (५) धार्मिक सिद्धान्त, (६) कर्म-संन्यास और नैष्कर्म्य, (७) व्यूह-वाद और अवतरवाद।

अध्यायों के शीर्षक ही विषय की गम्भीरता और उपयोगिता के द्योतक हैं। इनसे प्रकट है कि भारत के मूल धर्म की कितनी सार-गर्भित ऐतिहासिक विवेचना श्रद्धेय श्री विभूतिभूषण दत्त जी ने अपने संन्यासी-जीवन-काल में 'श्री स्वामी विद्यारण्य' के विश्व-विश्रुत नाम द्वारा प्रस्तुत करने की महती कृपा की।

श्री विभूतिभूषण दत्त वास्तव में एक अवतारी महा-पुरुष थे। बचपन से ही आप 'संन्यास' की त्याग-मयी भावना से अभिभूत रहे। १०-११ वर्ष के ही थे कि आपने अपने माता-पिता से कह दिया कि "मैं विवाह नहीं करूँगा। मैं संन्यासी बनूंगा।" पाठशाला में पढ़ते समय ही आप कौपीन पहनने लगे थे और पाठ्य पुस्तकों की अपेक्षा बहुत-कुछ धर्म-ग्रन्थों के ही अध्ययन में आपकी अधिक रुचि रहती थी। युवा होने पर आप राम-कृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के साहित्य के प्रति आकृष्ट हुए। तब से आप उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र आदि की विवेचना में लग गये। आप अत्यन्त मेधावी थे। यहाँ तक कि पाठ्य पुस्तकों को ध्यान से न पढ़ने पर भी सदैव आप अपनी कक्षा में प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुआ करते थे। सन् १९०७ में प्रवेशिका-परीक्षा में आप छात्र-वृत्ति द्वारा भी पुरस्कृत हुए थे।

जैसे-जैसे आप वयस्क होते गए, वैसे-ही-वैसे धर्म-तत्त्व, शास्त्र और दर्शन के सिद्धान्तों के प्रति आपका आकर्षण बढ़ता ही गया। फलतः आगे की कक्षाओं में आप छात्र-वृत्ति तो नहीं पा सके, किन्तु उत्तीर्ण सदैव अच्छी ही श्रेणी में होते रहे। सन् १९१४ में आपने मिश्र गणित में एम० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उसके बाद आपने विश्व-विद्यालय में गणित में शोध करना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में आपको शोध-वृत्ति भी प्राप्त हुई। क्रमशः आपको प्रेमचाँद राय वृत्ति, डी० एस-सी० की उपाधि, इलियट पुरस्कार आदि की भी उपलब्धि हुई। अन्ततोगत्वा आप कलकत्ता विश्व-विद्यालय में विज्ञान कालेज में मिश्र गणित के प्राध्यापक रूप में नियुक्त हो गये।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आपका उक्त सारा अध्ययन, शोध और अध्यापन-कार्य आपके लिए सदा केवल बाह्य कर्त्तव्य-पालन जैसा ही रहा, मूलतः आप निरासक्त कर्म-योगी ही रहे—सदैव निर्लेप, विरक्त और अपरिग्रही बने रहे। विज्ञान कालेज के सर रास-विहारी घोष प्राध्यापक का ज्येष्ठ पद रिक्त होने पर आपसे उसे ग्रहण करने का प्रस्ताव किया गया किन्तु आपने कहा कि 'दो दिन बाद मुझे संन्यास ग्रहण करना है, मुझे पदोन्नति नहीं चाहिए।'-उस श्लाघ्य पद को आपने अस्वीकार कर दिया। उस पद के योग्य अन्य व्यक्ति नहीं मिला, अतः लगभग तीन वर्षों तक आपने उक्त पद के सभी दायित्वों का सुचारु रूप से निर्वाह किया किन्तु उसके लिए कोई अतिरिक्त वेतन नहीं लिया। इसी निष्काम-भाव से आप अन्तिम समय तक ग्रह-नक्षत्र-गणित की शिक्षा देते रहे। क्योंकि इस अति कठिन विषय को पढ़ने के लिए बहुत कम छात्र तैयार होते थे और छात्रों के अभाव में कहीं नौकरी ही न चली जाय, इस भय से कोई प्राध्यापक इस विषय को पढ़ाने को उद्यत नहीं होता था। आपको नौकरी जाने की कोई चिन्ता थी ही नहीं। इस सम्बन्ध में आप जैसे ज्ञान-योगी का आत्म-विश्वास अद्वितीय था। किसी भी विषय के प्रति आपकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी और न किसी प्रकार की उदासीनता ही थी। उक्त दुरूह विषय को यद्यपि आपने पहले कभी पढ़ा नहीं था किन्तु कठोर परिश्रम कर उसे आत्म-सात् कर आपने उसकी शिक्षा देने के लिए अपनी निजी व्याख्या लिख डाली। वस्तुतः किसी भी विषय को आप असाध्य नहीं मानते थे।

आपकी आत्म-शक्ति का एक अन्य विलक्षण दृष्टान्त यहाँ देना उचित होगा। एम० एस-सी० परीक्षा के सात महीने पूर्व सन् १९१३ के नवम्बर में संन्यासी होने के उद्देश्य से आप कलकत्ते के अपने आवास से बिना किसी को कुछ बताए बाहर चले गये। यह सूचना पाते ही आपके बड़े भाई हरिद्वार गए और वहाँ से आपको पकड़ लाए। गुरु-जनों के प्रति अवज्ञा दिखाना तो आपका स्वभाव ही नहीं था, चुपचाप चले आए। बड़े दादा ने आरोप लगाया कि, 'पढ़ते-लिखते तो हो नहीं, परीक्षा में फेल होने के डर से भाग जाते हो।' यह सुनकर उन्हें तो कुछ उत्तर नहीं दिया किन्तु अपने बन्धु-बान्धवों से आपने कहा कि 'क्या! मैं फेल होने के डर से भागता हूँ? अच्छा, मैं एम० एस-

सी० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ही छोड़ूँगा ।' और सचमुच ही उन्होंने वैसा कर दिखाया, यद्यपि परीक्षा को छः महीने ही शेष थे, आपने वास्तव में कोई पढ़ाई तब तक नहीं की थी ! इस अवधि में न केवल आपने समस्त पाठ्य-ग्रंथों का गहन अध्ययन ही कर डाला, अपितु एक शोधात्मक प्रबन्ध भी लिख लिया, यद्यपि उन दिनों परीक्षार्थ ऐसा प्रबन्ध प्रस्तुत करने का कोई नियम नहीं था । इतने आप मेधावी थे और आपकी आत्म-शक्ति इतनी सुदृढ़ थी !

आपके जीवन की ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनसे सहज ही यह अनुमान क्या, विश्वास ही होता है कि आप एक असाधारण महा-पुरुष थे—नहीं-नहीं, एक अवतारी दिव्य पुरुष थे । आपके संन्यासी-जीवन की अपूर्व झलक अगले अध्याय के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जायगी । हमें आशा है कि यहाँ आपके पूर्वाश्रम-जीवन की जो कुछ बातें वर्णित हुई हैं, उनसे पाठकों को विशेष उद्‌बोधन मिल सकेगा और वे इस अध्याय का मनन करके 'भागवत धर्म' अर्थात् 'सनातन धर्म' के इतिहास का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करेंगे क्योंकि ऐतिहासिक परम्परा का ज्ञान हुए बिना धर्म का समुचित बोध नहीं हो सकता ।

विशिष्ट शब्द-कोष

पहले अध्याय के अन्तर्गत विशिष्ट शब्दों की व्याख्या की गई है। उनमें से महत्त्व-पूर्ण शब्दों को अकारादि-क्रम से यहाँ इस आशय से दिया जा रहा है कि धर्म-प्रेमी पाठक इन्हें ध्यान देकर सरलता से समझ सकें। सुविधा के लिए पृष्ठ-संकेत भी कर दिया गया है—

अर्चना की अष्ट-विधि—१ समय, २ समाचार, ३ स्वाध्याय, ४ द्रव्य-संग्रह, ५ शुद्धि, ६ योग, ७ स्तुति और ८ ध्यान (पृष्ठ १८)।

अर्थ-पञ्चक—(क) १ प्राप्य—ब्रह्म-स्वरूप, २ प्रापक——प्रत्यगात्मा-स्वरूप, ३ प्राप्ति— उपाय, ४ प्राप्ति—फल और ५ प्राप्ति——विरोधी (पृष्ठ २२)

(ख) १ स्व-स्वरूप—आत्म-स्वरूप या जीवात्मा-स्वरूप, २ पर-स्वरूप—ईश्वर-स्वरूप, ३ पुरुषार्थ स्वरूप, ४ उपाय-स्वरूप और ५ विरोधी स्वरूप——प्रतिबन्धक समूह का स्वरूप (पृष्ठ ५१)।

अष्ट-विध ऐश्वर्य—१ अणिमा, २ लघिमा, ३ महिमा, ४ प्राकाम्य, ५ प्राप्ति, ६ ईशिता, ७ वशिता और ८ कामावसिता (पृष्ठ ८)।

अष्ट-विध भगवद्-याग—१ महाभिगमन, २ योग, ३ मधु-घृत-सम्पृक्त दधि या पशु-बलि से पूजा, ४ अभ्यन्तर या मानस पूजा, ५ सम्प्रदाय, ६ वह्नि-सन्तर्पण (होम), ७ पितृ-याग और ८ प्राणाग्नि-हवन (पृष्ठ ३५)।

अष्टाक्षर मन्त्र—ॐ नमो नारायणाय (पृष्ठ २०)।

आत्मा की चार अवस्थाएँ——(क)१ जाग्रत, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति, ४ तुरीय; (ख) १ विश्व, २ तैजस्, ३ प्राज्ञ, ४ तुरीय (पृष्ठ ४८)।

ऐश्वर्य—स्वातंत्र्य-परिवृंहित कर्तृत्व (पृष्ठ ७)।

ॐकार—१ अकार—विश्व या विराट्, २ उकार——तैजस या हिरण्य-गर्भ, ३ मकार——प्राज्ञ या सूत्रात्मा, ४ अर्द्ध-मात्रा या परमात्मा (पृष्ठ ४८)।

चतुर्विध कर्म——१ सृष्टि, २ स्थिति, ३ लय, ४ लीलावतरण (पृष्ठ ८)।

चतुर्विध धर्म——१ सत्य, २ शौच, ३ दया, ४ मौन (पृष्ठ ८)।

चतुर्विध वैराग्य——१ अमान, २ व्यतिरेख, ३ ऐन्द्रिय, ४ वशीकृत (पृष्ठ ८)।

चतुर्व्यूह-विभाग—१ वासुदेव, २ अनिरुद्ध, ३ प्रद्युम्न, ४ सङ्कर्षण (पृष्ठ ४३)।

ज्ञान के पञ्च-गुण——१ शक्ति, २ ऐश्वर्य, ३ बल, ४ वीर्य, ५ तेज (पृष्ठ ८)।

तेज——जगत् की सृष्टि आदि कर्मों में किसी सहकारी की अपेक्षा न होना (पृष्ठ ७)।

त्रि-देव—१ ब्रह्मा, २ विष्णु और ३ शिव (पृष्ठ ११)।

त्रि-विध कृत्य-कर्म—१ नित्य, २ नैमित्तिक और ३ काम्य (पृष्ठ २६)।

त्रि-विध पञ्चरात्र—१ अभ्यासाङ्ग, २ पञ्च-शारदीय, ३ महा-व्रतान्तर्गत (पृष्ठ ४५)।

त्रि-विध यज्ञ-पर्याय—१ सन्धि, २ स्तोत्र, ३ शास्त्र (पृष्ठ ४५)।

त्रि-विध वैष्णव—१ एकान्ती, २ परम या प्रपन्न एकान्ती, ३ केवल वैष्णव (पृष्ठ २८)।

द्वादशाक्षर-मन्त्र—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय (पृष्ठ १६, २०)।

नवधा भक्ति—१ शङ्ख-चक्रोर्ध्व-पुण्ड्रादि-धारण, २ हरि-स्मरण, ३ हरि-नाम-सङ्कीर्तन, ४ हरि-पादाम्बु-निषेवण, ५ हरि-पाद-वन्दन, ६ तन्निवेदित भोजन, ७ एकादशी-उपवास, ८ हरि का तुलसी-अर्चन, ९ तदीय दिग् का अर्चन (पृष्ठ २२)।

नवधा वैष्णव—१ आप्त, २ अवाप्त, ३ आरम्भी, ४ सम्प्रवर्ती, ५ योगी, ६ जप-निष्ठ, ७ तापस, ८ शास्त्रज्ञ, ९ शास्त्र-धारक (पृष्ठ २८)।

नवेज्या-कर्म—१ अर्चन, २ मन्त्र-पठन, ३ ध्यान, ४ होम, ५ वन्दन, ६ मन्त्रार्थ-चिन्तन, ७ योग, ८ वैष्णवों का पूजन, ९ प्रसाद-तीर्थ-सेवा (अन्य मत से ८ वाँ कर्म है 'स्तुति' और ९ वाँ है 'समाधि'—पृष्ठ २२)।

पञ्च-अर्चा—१ देवता-स्थान-मार्जन, उपलेप और निर्माल्य-दूरीकरण (अभिगमन), २ गन्ध-पुष्पादि-चयन (उपादान), ३ स्व-देवता की यथार्थ पूजा (इज्या), ४ मन्त्रार्थ-सन्धान-पूर्वक जप, सूक्त-स्तोत्रादि-पाठ, हरि-सङ्कीर्तन, तत्त्वादि-शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय), ५ स्व-देव की आत्म-भावना (योग)। (पृष्ठ ३६)।

पञ्च-काल—१ दीक्षा-काल, २ नित्य, ३ नैमित्तिक, ४ काम्य-पूजा-काल और ५ प्रतिष्ठा-काल अथवा पञ्च-यज्ञ के पञ्च-काल (पृष्ठ १६, २०); (ख) १ अभिगमन-काल, २ उपादान-काल, ३ इज्या-काल, ४ अध्याय या स्वध्याय-काल और ५ योग-काल (पृष्ठ ३५)।

पञ्च-कृत्य—१ सृष्टि, २ स्थिति, ३ लय, ४ निग्रह (तिरोधान) और ५ मूल (पृष्ठ २८)।

पञ्च-ज्ञान—(क) १ आध्यात्मिक, २ परमात्मा कृष्ण की भक्ति, ३ मुक्ति, ४ यौगिक और ५ मायिक; (ख) १ परम तत्त्व, २ पर, शुद्ध और मुक्ति-प्रद, ३ शुद्ध व मङ्गल, ४ यौगिक—सर्व-सिद्धि-प्रद, ५ वैषयिक (इनमें से प्रथम व द्वितीय ज्ञान सात्विक, चतुर्थ ज्ञान 'राजसिक', पञ्चम ज्ञान 'तामसिक' और तृतीय ज्ञान 'निर्गुण' है। (पृष्ठ ४०)।

पञ्च-दशात्मक वासुदेव—१ तुरीयातीत, २ तुरीय, ३ प्राज्ञ, ४ तैजस, ५ विश्व (पृष्ठ ४६)।

पञ्च-भागवत—(क) १ यति, २ एकान्ती, ३ वैखानस, ४ कर्म-सात्वत, ५ शिखि (पृष्ठ २७); (ख) १ वैखानस, २ सात्वत, ३ शिखि, ४ एकान्तिक, ५ मूल (पृष्ठ २८)।

पञ्च-महा-भूत—१ भूमि, २ जल, ३ तेज (अग्नि), ४ वायु, ५ आकाश (पृष्ठ २१)।

पञ्च-रात्रि—(क) १ आकाशादि पञ्च-महा-भूत (पृष्ठ ३८), (ख) १ सांख्य, २ योग, ३ शैव, ४ वेद और ५ आरण्यक (पृष्ठ ४१)।

पञ्च-वैष्णव—१ भक्त, २ भगवद्-भक्त, ३ दास, ४ पार्षद, ५ भागवत (पृष्ठ २०)।

पञ्च-व्यूह—(क) १ शान्त-तर : पर-वासुदेव, २ शान्तोदित : व्यूह-वासुदेव, ३ सुषुप्ति : सङ्कर्षण, ४ स्वप्न : प्रद्युम्न, ५ व्यूह : जाग्रद् व्यूह—अनिरुद्ध (पृष्ठ ४९, ५०)। (ख) १ पर, २ व्यूह ३ विभव, ४ अन्तर्यामी, ५ अर्चा (पृष्ठ ५०)।

पञ्च-शास्त्र—१ वेद, २ वेदान्त, ३ सांख्य, ४ योग, ५ पुराण (पृष्ठ ३७)।

पञ्च-स्वरूप—१ पर, २ व्यूह, ३ विभव, ४ सर्व-देहियों का नियन्ता (अन्तर्यामी), ५ दयालु पुरुषाकृति अर्चावतार (पृष्ठ ४२)।

बल—जगत् की सृष्टि आदि करते हुए भी श्रम की हानि का न होना (पृष्ठ ७)।

ब्रह्म—१ भगवान् ही ब्रह्म हैं, २ 'तत्त्व' नामक अद्वय ज्ञान (पृष्ठ ६)।

भग—१ अदिति के पुत्र—एक देवता, २ सूर्य का एक नाम, क्योंकि वे अपनी किरणों द्वारा सभी लोगों को भासित करते हुए उदित होते हैं, ३ उषा-काल के बाद और उदय के ठीक पहलेवाले सूर्य का नाम। इस समय का सूर्य लोगों की दृष्टि में नहीं पड़ता, जिससे उसे 'अन्ध' कहते हैं (पृष्ठ ३)।

४ प्रसव के डिम्ब का नाम, ५ सूर्य की सातवीं मूर्ति का नाम, ६ पौष या मास के सूर्य का नाम, ७ उत्तर-फल्गुनी नक्षत्र का अधिष्ठातृ देवता, ८ धनवत्ता का सूचक (पृष्ठ ४)।

९ दुग्ध, तेज, विज्ञान, बल-वीर्य, रक्षक, विभाजक, सर्व-धारक, शत्रु-नाशक, अमृत आदि का सूचक, १० स्त्री-योनि, ११ नक्षत्रादि की ज्योति का जरयिता (जीर्ण-कारक) होने से सूर्य 'जार' कहलाता है, १२ देव-गण से भजित या सेवित होने से सूर्य का नाम 'भग' (पृ० ५)।

१३ जिसके द्वारा नारी अपने 'जार' की सेवा करती है और जिसके लिए जार से वह सेवित होती है, वह नारी का 'भग' है, १४ जिस गुण द्वारा एक अपनी प्रभा से अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करता है और दूसरा सभी को निष्प्रभ करता है, वही उसका भग है, १५ जिस गुण के द्वारा एक अन्य सभी से भजित या सेवित होता है, वही उसका 'भग' है, १६ सौभाग्य का बोधक, १७ छः गुणों की समष्टि (१ सम्पूर्ण

ऐश्वर्य, २ वीर्य, ३ यश, ४ श्री, ५ ज्ञान, ६ वैराग्य अथवा १ ज्ञान, २ शक्ति, ३ बल, ४ ऐश्वर्य, ५ वीर्य, ६ तेज), १८ ऐश्वर-भाव या महेश्वर-भाव (पृ० ६)।

१९ जो 'भ' या वृद्धि को प्राप्त हो, उसे 'भग' कहते हैं (पृ० ७)।

भगवती—१ भगवान् का स्त्री-रूप (पृ० ७), जो सभी प्राणियों के द्वारा सेवित होती है (पृ० ९)।

भगवान्—१ जिसके भग है, वह पुरुष, २ जो सब भूतों की उत्पत्ति व प्रलय, आगति व गति, विद्या व अविद्या को जानता है, ३ हेय-गुण-रहित सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज जिसमें है, ४ जो 'भ' या वृद्धि को प्राप्त हो, वही 'भग' अर्थात् प्रकृति है, उसका स्वामी अर्थात् शिव, ५ वीर्य (पृ० ७)।

६ 'स्थूलार्थ'—समुदाय द्वारा पूज्य, 'सूक्ष्मार्थ'—धारण, पोषण और सम्भरण, इन तीनों कर्मों का कर्ता, 'परार्थ'—ईश्वर-रूप से विश्व को वरण कर अखिल काम की वृद्धि करनेवाला (पृ० ८, ९)।

७ ऋषि, देवता, गुरु आदि भी 'भगवान्' (पृ० १२), ८ वैष्णवों की एक श्रेणी (पृ० १३)।

भागवत—१ भगवान् विष्णु के उपासक, २ भगवान् या भगवती के प्रतिपादक ग्रन्थ (पृष्ठ २), भगवान् या भगवती के उपासक, ४ भगवान् या भगवती-सम्बन्धी (पृष्ठ ३), ५ वैष्णवागम या शैवागम मत (पृ० १५)।

भागवत धर्म के द्वादश ज्ञाता—१ स्वयम्भू (ब्रह्मा), २ शम्भु, ३ नारद, ४ सनत्कुमार, ५ कपिल, ६ स्वायम्भुव मनु, ७ प्रह्लाद, ८ जनक, ९ भीष्म, १० बलि, ११ शुक्र और १२ धर्मराज यम (पृ० १)।

भागवत धर्म के प्रवर्तक—१ भगवान् नारायण ऋषि, २ हंसावतार-रूप में भगवान् विष्णु (पृ० २)।

भागवत धर्म-समूह—१ यथार्थ एवं शीघ्र आत्म-लाभ देनेवाले उपाय, २ आत्म-तत्त्व के प्रकाशक, ३ आत्म-लाभ का सरल अभ्रान्त सुनिश्चित साधन (पृ० १)।

भागवतोत्तम—१ शिव-भक्त, २ विष्णु-भक्त, ३ गायत्री-उपासक, ४ भगवद्-धर्म-तत्पर, ५ वेद-शास्त्रानुयायी (पृ० १५-१६)।

वीर्य—निर्विकार रहना अर्थात् अच्युत रहना (पृ० ७)।

शक्ति—जगत् का प्रकृति-भाव (पृ० ७)।

षड्-गुण या षडङ्ग—१ सर्वज्ञता = ज्ञान, २ तृप्ति = बल, ३ अनादि-बोध = तेज, ४ स्वतन्त्रता = ऐश्वर्य, ५ नित्य-अलुप्त शक्ति = वीर्य, ६ अनन्त शक्ति = शक्ति (पृ० १०-११)।

षड्-विध ज्ञान—(क) १ ज्ञान, २ शक्ति, ३ ऐश्वर्य, ४ बल, ५ वीर्य, ६ तेज (पृष्ठ ७-८)। (ख) १ उत्पत्ति, २ प्रलय ३ विद्या, ४ अविद्या, ५ आगति, ६ गति का ज्ञान (पृष्ठ ८)।

भागवत धर्म का प्राचीन इतिहास

[प्रथम खण्ड : पहला अध्याय]

में

उल्लिखित ऋषि, आचार्य और विद्वान्

पहले अध्याय के अन्तर्गत जिन मनीषियों के कथनों को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है, उनकी सूची अकारादि-क्रम से यहाँ प्रस्तुत है। नामों के आगे पृष्ठ-संख्या अङ्कित है—

अलबेरुनी—४५, आचार्य यामुन—१८, २३, २६, ५६, आचार्य रामानुज—२०, २८, २६, ३१, ४१, आचार्य वेङ्कटनाथ, २६, ३६, आचार्य शङ्कर—१०, ई० सचाउ—४५, उत्पल भट्ट (उत्पलाचार्य)—६, ८, ११, १८, एस० कृष्ण स्वामी आयेङ्गार—३८, ५५, औपगायन—३६, कवि भास—४४, कीथ—३६, कुशिक ऋषि—४६, कौटिल्य—३५, कौशिक—३६, गङ्गानाथ झा, महा-महो०—४३, गार्वे—५६, ग्रियर्सन—५२, ५६, चन्द्रधर गुलेरी—१४, जनमेजय—५१, जीवानन्द—१६, ध्रुव—२४, नलिनाक्ष दत्त—३४, नारद—२४-२६, नीलकण्ठ—४२, ५३।

पतञ्जलि—१४, प्रतापचन्द्र राय—५३, प्रह्लाद—२४, बर्बर मुनि—८, ४२, ४३, बाल गङ्गाधर तिलक—४१, ५२, ६०, बुद्ध—३३, ३४, भरद्वाज ऋषि—३६, ४६, भाण्डारकर रामकृष्ण गोपाल—५२, ६१, भृगु—२०, २१, मगनीलाल वाङ्गर सेठ—१६, महर्षि पाणिनि—४४, महर्षि मरीचि—२०, महर्षि विखनस—२०, मेकडोनल—३६, मौज्जायन—३६।

यादवप्रकाश आचार्य—१७, यास्क—३, ५, ४७, राजेन्द्रलाल मित्र—३४, रात्रि ऋषि—४६, राधाकृष्णन्—४३, रामप्रसाद चन्दा—५२, लोकाचार्य—८, ४२, ४३, वराह मिहिर ज्योतिषाचार्य—१७-१६, वादरायण—६, १३, ४४, विनयतोष भट्टाचार्य डा०—३८, विष्वक्-सेन—३१, वेनीमाधव बड़ुआ—३३, वैशम्पायन—५१, ५३, व्यास—३२, ३४, शठारि—३१, शाण्डिल्य—१६, ३१, ३६, श्रीधर स्वामी—२, सनकादि सिद्ध-चतुष्टय—३६, साम्ब शिव शास्त्री—४०, सायण—१२, ४५-४७, सुधन्वाचार्य—१८, सौभरि ऋषि—४६, स्क्रेडार—४०, ४२, ४३, हरिभद्र—१२

***

समर्पण

महा-मना

डा० कृपाशङ्कर जी शुक्ल

एवं

श्रीमान् सुकोमल जी दत्त

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

जिनकी अहैतुकी कृपा से इस दुर्लभ ऐतिहासिक शोधात्मक ग्रन्थ के अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे मिल सका :

—रमादत्त शुक्ल

पहला अध्याय

भागवत धर्म

'(विष्णु) भागवत पुराण' (११।२।७ और ११।२।११.२) में कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव ने एक बार देवर्षि नारद से 'भागवत-धर्म-समूह' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

तब नारद ने उन्हें विदेह-राज निमि और कवि आदि तत्व-दर्शी, 'अध्यात्म-विद्या-विशारद' एवं महा-भागवत' (विष्णु-भागवत ११।२।२०,२५) नौ महात्माओं का सम्वाद सुनाया। निमि ने उनसे 'भागवत-धर्म-समूह' का उपदेश करने की प्रार्थना की (विष्णु-भागवत ११।२।३१), जिस पर उन्होंने भागवत-धर्म की व्याख्या की (विष्णु-भागवत ११।५।४३.१, ४५.१)।

महात्मा कवि ने कहा, 'अविद्वान् पुरुषों को भी यथार्थ रूप से एवं शीघ्र [१] आत्म-लाभ देने के लिये [आत्म-लब्धये] जो उपाय भगवान् द्वारा निश्चित रूप से कहे गये हैं, उन्हीं सबको 'भागवत-धर्म-समूह' कहते हैं। हे राजन्! उनके आश्रित होने से मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं पड़ता। वह आँख बन्द करके भी दौड़े, तो इस संसार में उसके पैर नहीं लड़खड़ाते, फलतः उसका पतन नहीं होता' (भाग० ११।२।३४-५)।'

इस उक्ति से यह निश्चित रूप में ज्ञात होता है कि उनके मत से भागवत-धर्म आत्म-लाभ का सरल, अभ्रान्त और सुनिश्चित साधन है। वसुदेव के पूर्वोक्त प्रश्न से ज्ञात होता है कि भागवत-धर्म द्वारा मनुष्य सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है और वह सम्यक् रूप से अभय होता है (भा०११।२।३७-८)। इसी प्रकार निमि के प्रश्न से ज्ञात होता है कि 'उनके द्वारा प्रसन्न होकर अज (भगवान्) शरणागत भक्त को अपने को भी अर्पित कर देते हैं।'

ब्रह्मा के मत से—'ज्ञानं योगं च भागवतमात्म-तत्त्व-दीपम्' अर्थात् भागवत ज्ञान और योग आत्म-तत्त्व के प्रकाशक हैं (भा० २।७।१९.१)। यमराज ने कहा कि भागवत-धर्म अति विशुद्ध है, उसे जानकर मनुष्य अमृतत्व को पा जाता है, परन्तु वह अत्यन्त गुह्य और दुर्बोध है—'गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।'—(भा० ६।३।२१.२)। यहाँ तक कि देव-गण, ऋषि-गण और मुख्य-मुख्य सिद्ध-गण भी उसे ठीक-ठीक नहीं जानते। अतः अन्य लोगों की क्या बात है! उन्होंने और भी कहा कि स्वयम्भू (ब्रह्मा), शम्भु, नारद, (सनत्) कुमार, कपिल, (स्वायम्भुव) मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुक एवं स्वयं वे—ये बारह लोग ही भागवत-धर्म को जानते हैं (भा०६।३।१९)।

---

[१] मूल में 'अञ्ज' शब्द है। 'अमर-कोष' के मत से इसका अर्थ है 'शीघ्र' और 'यथार्थ'। यहाँ दोनों ही अर्थ ठीक हैं।

भागवत-धर्म के वक्ता ये भगवान् कौन हैं ?—कवि या उनके सतीर्थ अन्य कौन भागवत है, यह बताया नहीं है। '(विष्णु) भागवत-पुराण' से अन्यत्र कहा है कि महा-भागवत प्रह्लाद ने दैत्य-बालक-गण को 'भागवत-धर्म - समूह' का उपदेश किया (विष्णु - भा०, ७।६।१)। उन्होंने कहा, 'इसी अमल एवं दुर्लभ ज्ञान का उपदेश (ऋषि) नर के सखा (ऋषि) नारायण ने (देवर्षि) नारद को किया था, यह प्रसिद्ध है। भगवान् के एकान्त एवं अकिञ्चन भक्त-गण के चरण-कमल की रज से जिनकी देह आप्लुत है, उन्हीं को वह ज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान-संयुक्त यही ज्ञान—यही विशुद्ध भागवत-धर्म मैंने पूर्व-काल में देव-दर्शन नारद से सुना था।' (विष्णु-भा०, ७।६।२७-८)

अतः, उनके मत से, भागवत-धर्म के प्रवर्तक भगवान् नारायण ऋषि ही हैं और उन्होंने पहले पहल देवर्षि नारद को उसका उपदेश किया था। यही बात देवर्षि नारद से सम्मत कहनी होगी क्योंकि कहा जाता है कि उन्हीं ने प्रह्लाद का आख्यान महाराज युधिष्ठिर को बताया था।[1] नारद ने कहा, 'धर्मो भागवतानां च भगवान् येन गम्यते' (जिसके द्वारा भगवान् को पाया जाय, वही भागवत-गण का धर्म तुमसे कहा गया—विष्णु-भा०, ७।१०।४५.१)। अव्यवहित होकर उन्होंने कहा कि ये भगवान् विष्णु ही हैं (विष्णु-भा० ७।१०।४६)। इससे ज्ञात होता है कि भागवत-धर्म के उपास्य देवता भगवान् विष्णु ही हैं और उसके अनुयायी-गण 'भागवत' नाम से प्रख्यात हैं।

'भागवत'-शब्द संस्कृत भाषा में विशेष्य और विशेषण दोनों ही रूपों में व्यवहृत हुआ है। विशेष्य-रूप में यह ग्रन्थ और व्यक्ति इन दोनों ही अर्थों में सामान्यतः प्रयुक्त किया गया है (देखें 'चैतन्य चरितामृत' १।१।४६, २-४८.१)। भगवान् या भगवती जिस ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं, उसे 'भागवत' कहा है। (भागवत = भगवतो भगवत्या वा इदम्, भगवत् + भस्येदमित्यण्)। यथा—'भागवत पुराण'। भगवान् या

---

[1] यमराज ने कहा, 'धर्मं तु साक्षाद्-भगवत्-प्रणीतं' (वही, ६।३।१९.१) अर्थात् भागवत-धर्म के प्रणेता साक्षात् भगवान् ही हैं। यहाँ भगवान् विष्णु को ही लक्ष्य करके उन्होंने कहा है, ऐसा सहज ही प्रतीत होता है। ब्रह्मा ने नारद से कहा कि उनकी (नारद की) अत्यन्त भक्ति द्वारा सन्तुष्ट होकर भगवान् ने उन्हें 'वासुदेव-शरण व्यक्ति-गण जिससे शीघ्र एवं यथार्थ रूप में परिज्ञात होते हैं, आत्म-तत्त्व-दीप वही भागवत ज्ञान और योग' बताया है (वही, २।७।१९)। टीकाकार श्रीधर स्वामी के मत से भगवान् विष्णु ने हंसावतार-रूप में ही नारद को आत्म-तत्त्व-प्रकाशक भागवत ज्ञान व योग का उपदेश किया था। भगवान् विष्णु ने नारायण ऋषि-रूप में नारद को भागवत-धर्म का उपदेश किया था, ऐसा समझने से प्रह्लाद और ब्रह्मा की उक्तियों तथा ब्रह्मा और यमराज की इन दो उक्तियों का पार्थक्य शेष नहीं रहता। नारायण ऋषि विष्णु के अवतार हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। जो हो, इस विषय में अधिक विचार तृतीय अध्याय में किया जायगा।

भगवती जिसके इष्ट-देवता हैं, उसी व्यक्ति को 'भागवत' कहा है।[1] वर्त्तमान ग्रन्थ में हमने विशेष रूप से इसी दूसरे अर्थ में 'भागवत'-शब्द का व्यवहार किया है। विशेषण-रूप में 'भागवत' शब्द का अर्थ है 'भगवान् या भगवती-सम्बन्धी' अथवा 'भगवान् का या भगवती का'। जिनके 'भग' है, उन्हीं को पुं-लिङ्ग में 'भगवान्' और स्त्री-लिङ्ग में 'भगवती' कहते हैं।[2] इस प्रकार देखें, तो 'भागवत'-शब्द का प्रकृत तात्पर्य 'भग'-शब्द के अर्थ पर ही सम्यक् रूप से निर्भर करता है।

'भग'-शब्द संस्कृत भाषा में प्राचीन काल से एकाधिक अर्थों में व्यवहृत होता आया है; और काल-क्रम से इसके अर्थ में परिवर्तन भी हुआ है, इसे देखें। वेद में 'भग' नामक एक देवता का उल्लेख पाया जाता है। कहा है कि 'भग' अदिति के एक पुत्र हैं। वेद के ऋषि वशिष्ठ ने अदिति-पुत्र 'भग'-देवता की स्तुति की है। (ऋक्-सं०, ७।४१ सूक्त; राजसं (माध्य), ३४; अथ-सं०, ३।१६)।

आचार्य यास्क और आचार्य शौनक कहते हैं कि ये 'भग'-देवता सूर्य ही हैं,—'भग' सूर्य का एक नाम-विशेष है। आचार्य शौनक ने और भी कहा है कि सूर्य अपने रश्मि-समूह द्वारा इस समस्त लोक को भासित करते हुए (भासयन्) उदय होते हैं; इसी कारण वशिष्ठ ऋषि ने स्वयं स्तुति कर उन्हें 'भग' कहा है (बृहद्देवता, २।६२)।

आचार्य यास्क ने कहा है, उषा-काल के बाद और उदय के ठीक पहले के समय-वाले सूर्य का नाम 'भग' है; ऋषियों ने जो कहा है कि 'भग अन्ध',[3] उससे यही सिद्ध होता है; क्योंकि अनुदित रहने से सूर्य उस समय लोक - चक्षु के दृष्टि-गोचर होता नहीं, अतः 'भग' को अन्ध कहा है (निरुक्त, १२।१४; इसी स्थान में यास्क ने ऋक्-सं०, ७।४१।२ मन्त्र का अनुवाद कर व्याख्या की है)।

---

[1] भागवत = भगवान् भगवती वा अस्य देवतेति,
भगवत् + सोऽस्य देवतेत्यण् = भगवद्-भक्त।
'सर्व-देवान् परित्यज्य नित्यं भगवदाश्रयः।
रतस्तदी-सेवायां स भागवत उच्यते॥' (पद्म-पु. उत्तर-खण्ड)

[2] भग + तदस्यास्तीति मतुप्; 'म' के स्थान पर 'व' का आदेश होने से 'भगवत्'; स्त्रियां ङीप् भगवती। यथा, देखें—'भगवान् भग-सद्-भावात्' (वायु-पु. १।५।२४.१); 'भगवान् भगवद्-भावात्' (लिङ्ग-पु., १।७०।६८.१)

[3] 'यो अन्धो यः पुनः सरो भगो वृक्षेष्वाहितः। तेन मां भगिनं कृणु...।'—अथ सं., ६।१२८।३)

'जो भग अन्ध है, जो भग पुनःसर है (अर्थात् अन्धता के कारण सामने बराबर चलने में असमर्थ होने से कभी-कभी पहले चले पथ पर पुनः चला जाता है, अर्थात् आगे-पीछे और इधर - उधर चलता है) एवं (इसी कारण पथ में स्थित) वृक्षों में आहत होता है, वह मुझे भग-युक्त करे।' 'अन्धो भगः'—शत-ब्रा. (माध्य), १।७।४।६-७

किसी-किसी पुराण में भी है कि 'भग' सूर्य का ही नाम है—'भगो विवस्वानादित्यः' शिव-पु०, ज्ञान-सं०, ७१।६८.१; लिङ्ग-पु०, १।८८।८४.२)। 'शिव-पुराण' में है कि सूर्य लोक-प्रसविता है, इसी से प्रसव का डिम्ब 'भग' नाम से अभिहित होता है (शिव-पु०, विद्येश्वर-सं० १६।१०५.२)। 'ब्रह्म-पुराण' (३०।३४) में है—भग परमात्मा सूर्य की सातवीं मूर्ति है और वह देही-जनों के शरीर में प्रजनन-शक्ति के रूप में अवस्थित है।

किसी-किसी पुराण के मत से पौष मास के सूर्य का नाम 'भग' है (विष्णु-भाग०, १२।११।४२; विष्णु-पु०, २।१०।१४-५)। 'स्कन्द-पुराण' के मत से माघ मास के सूर्य का नाम 'भग' है (७।१।१०१।६८)। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (१।१।२।४; १।५।१।२) के मत से, 'भग' उत्तर-फल्गुनी-नक्षत्र का अधिष्ठातृ देवता है (और भी देखें—शाङ्खा-गृह्य०, १।२६)। महा-भारत आदि में भी वह उल्लिखित है। (महा-भा०; ६।३।१४-२। 'भगं नक्षत्रमाक्रम्य' (म० भा०, ६।८१) 'पूर्वा-फल्गुनी श्रुति-मते तूत्तरा-फल्गुनी'—नीलकण्ठ), सूर्य जब उत्तर-फल्गुनी नक्षत्र में होता है, तब उसका नाम 'भग' होता है।

पूर्वोक्त-वेद-सूक्त में वशिष्ठ ऋषि ने 'भग'-देवता से 'भग' की प्रार्थना की है। यथा—'भग'-देवता स्वयं 'भगवान्' हैं और उनसे 'भग' लाभ कर ऋषि स्वयं भगवान् होने की आकांक्षा करते हैं—'भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।' ऋक्-सं०, ७।४१।५.१; वाज-सं० (माध्य), ३४।३८.१; अथ-सं०, ३।१६।५.१; ऋक्-सं०, १।२४।४ मन्त्र में सूर्य के भाग का उल्लेख है। कहा है कि धनी और दरिद्र सभी 'भग' देवता से 'भग' की प्रार्थना करते हैं (ऋक्-सं०, ७।४१।२; वाज-सं (माध्य), ३४।३५; अथ-सं०, ३।१६।२)। यहां अवश्य 'भग' के विषय में धनवत्ता और दारिद्र्य को लक्ष्य किया गया है, अन्य विषय को नहीं, इससे 'भग'-देवता की अतिशयता या अनन्तता की पुष्टि होती है। 'भग'-देवता के पास इतना 'भग' है कि संसार में जो 'भग' के धनी हैं या अनेक-'भग'-सम्पन्न माने जाते हैं, वे भी उनकी अपेक्षा दरिद्र हैं, 'भग'-देवता की तुलना में उनका 'भग' तुच्छ है; इसी से उनसे अधिक 'भग' की प्रार्थना करते हैं। अतः जो 'भग' में दरिद्र हैं अर्थात् स्वल्प-'भग'-वान् हैं, उनकी क्या बात?

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में है, 'भगी स्याम्' (मैं 'भगी' होऊँ)—जो यह कामना करता है, वह उत्तर-फल्गुनी में अग्न्याधान करे। उत्तर-फल्गुनी 'भग' का ही नक्षत्र है। (अतः इसमें अग्न्याधान करने से मनुष्य) निश्चय 'भगी' होता है (तैत्ति-ब्रा०, १।१।२।४)। वेद में इन्द्र (ऋक्-सं०, २।१७।७; ३।३०।१८, १९), सविता (ऋक्-सं०, ३।६२।११; ५।८२।१; वाज-सं (माध्य), ९।१; ११।७; २२।१४ इत्यादि), सोम (वाज-सं० (माध्य), ५।७), पृथिवी (अथ-सं०, १२।१।५) बृहस्पति (अथ-सं०, १९।४।३) आदि से भी 'भग' की प्रार्थना की गई है। कहा है कि अग्नि 'भग' खाता है (ऋक्-सं०, ५।७।८) और इन्द्र 'भग' के लिए प्रकाशित होता है (ऋक्-सं०, ९।१०९।१०)। इन सब प्रमाणों से निश्चित

रूप से ज्ञात होता है कि वेद में 'भग' शब्द केवल 'देवता'-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, 'द्रव्य' और 'गुण'-विशेष के भी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वह द्रव्य या गुण, जिसे वेद में 'भग' कहा है, क्या है? वेद के एक मन्त्र में अग्निहोत्र के लिए लाई धेनु को उत्तम यव-तृण देकर यजमान कहता है, 'इस उत्तम यव-तृण द्वारा (अर्थात् खाकर) तुम 'भग'-वती होओ। तब मैं 'भग'-वान् होऊँगा (ऋक्-सं०, १।१६४।४०; अथ-सं०, ७।७७।११; ९।१५।२०) यहाँ अवश्य ही दुग्ध को 'भग' कहा गया है। दुग्ध सबका भजनीय है, इसी से वह 'भग' है। द्युमन्त-भग (ऋक्-सं०, ३। ३०।१९) और 'प्रजा-वान् भग' (ऋक्-सं० ३।३०।१८) का भी उल्लेख वेद में है। किसी-किसी मन्त्र में परिष्कार कहा है कि 'भग'=वर्च या तेज (अथ-सं० ३।१२।६, ६।१९।२, १२।१।५)। अन्य किसी-किसी मन्त्र से ज्ञात होता है कि 'भग'=वर्च और विज्ञान (अथ-सं०, ७।१३।३)। 'भग'-देवता के जैसे वर्च है (अथ-सं०, ६।१२९।२), वैसे ही बल या वीर्य भी है (अथ-सं०, २।२९।१; और भी देखें, तैत्ति-ब्रा ३।१।१।१८)। इसी कारण, बोध होता है, ऋषि उसे रक्षा-जन्य (ऊतये) भग कहते हैं। तथा इन्द्रादि ने उस देवता का आह्वान और स्तव किया है। (ऋक्-सं० ५।४६।३)

एक मन्त्र में 'भग'-देवता को 'विभक्ता' (या विभाग-कर्ता, दाता) कहा है और अन्न व रक्षण-सहित आगमन करने की प्रार्थना की है—'भगः विभक्ता शवसा अवसाह गमत्' (ऋक्-सं०, ५।४६।६)। श्यावाश्व ने 'भग'-देवता का ध्यान श्रेष्ठ सर्व-धारक एवं शत्रु-नाशक रूप (श्रेष्ठं सर्व-धातमं तुरम्) में किया है (ऋक्-सं०, ५।८२।१; छान्दोग्योपनिषद् ५।२।७ में इस मन्त्र का उल्लेख और प्रयोग है)। कहा है कि 'भग' देवता 'अमृतासः'=अमृत (ऋक्-सं०, ५।४२।५)। वशिष्ठ ऋषि ने कहा है कि 'भग'-देवता 'जित' (=जयी), 'उग्र' (=तेजस्वी) और 'विधर्ता' (=विश्व-प्रपञ्च का विधारक) है; वह 'प्रणेता' (=प्रकृष्ट नेता), 'सत्यराध' (=सत्य-धनवान्), 'मघवन्', 'सूर्य' (=सर्व-जगत्-प्रपञ्च का प्रसविता और प्रेरयिता) और 'वसु-विद्' है (ऋक्-सं०, ७।४१।२-५; वाज-सं० (माध्य), ३४।३५—; अथ-सं०, ३।१६।२—) ये सभी गुण होने से 'भग'-देवता ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे गुण ही उनके 'भग' हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'भग' को जार कहा है—'जार आ भगम्' (ऋक्-सं०, १०।११।६)। आचार्य यास्क ने कहा है (निरुक्त, ३।१६) यहाँ 'भग' शब्द का अर्थ है 'आदित्य', अथवा 'स्त्री-भग' या स्त्री-योनि। आदित्य रात्रि के अन्धकार का, तथा नक्षत्रादि ज्योतिष्क-समूह की ज्योति का 'जरयिता' (जीर्ण-कारक) है, इसी से उसे जार कहा है। एक मन्त्र में सूर्य को 'स्वसुर्जार' अर्थात् उषा का जार या जीर्ण-कारक कहा है (ऋक्-सं०, ६।५५।५ १७.१)। सेवा-वाचक 'भज्'-धातु से भी 'भग'-शब्द निष्पन्न होता है। 'साम्ब-पुराण' में सूर्य के 'भग'-नाम की व्युत्पत्ति इसी अर्थ में की गई है। कहा है, वे सभी देव-गण से सेवित या भजित हैं, इसी से वे 'भग'-नाम से अभिहित हैं—'सेव्यते यः

सुरैः सर्वैः भाश्चैव भजते यतः। धातुर्भजेति सेवायां तेनासौ भग उच्यते॥'- (साम्ब पुराण, ६।३७)। जिसके द्वारा नारी अपने जार की सेवा करती है और जिसके लिये जार से सेवित होती है, वही उसका 'भग' है।'[1] वैसा होने से कहा है, जिस गुण द्वारा एक अपनी प्रभा से अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करता है और दूसरा सभी को निष्प्रभ करता है, वही उसका 'भग' है; अथवा जिस गुण के कारण एक अन्य सभी से भजित या सेवित होता है और स्वयं अन्य सभी का भजन या सेवा करता है, वही उसका 'भग' है। इसी प्रथम अर्थ में 'भग'-शब्द का व्यवहार वेद में वस्तुतः मिलता है (अथ-सं०, ६।१२८।२, ७।१३।३)। 'सौभाग्य'-अर्थ में भी 'भग'-शब्द का प्रयोग वेद में है (वाज-सं० (माध्य), १८।८)। इसी प्रकार 'सुभग', 'सौभग' इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग है।

पर-वर्ती काल में, महाभारत-पुराणादि में सामान्यतः छः गुणों की समष्टि को 'भग' कहा है, देखें। ये छः गुण कौन-कौन से हैं, इस सम्बन्ध में कुछ मत-भेद भी दिखाई देता है। किसी-किसी पुराण में है, १ सम्पूर्ण ऐश्वर्य, २ वीर्य, ३ यश, ४ श्री, ५ ज्ञान और ६ वैराग्य—इन छः गुणों का नाम 'भग' है (अग्नि-पु०, ३७८।११; नारद-पु०, १।४६।१७)। अन्य किसी-किसी पुराण में इनमें सामान्य परिवर्तन दृष्टिगत होता है।[2] कहीं-कहीं १ ज्ञान, २ शक्ति, ३ बल, ४ ऐश्वर्य, ५ वीर्य और ६ तेज—इस छः गुण-राशि को 'भग' कहा है (देखें नारद पु०, १।४६।२७; वृद्धि-हारीत-स्मृति, ६।१६४)। 'पाञ्चरात्र-संहिता' में उसका तात्पर्य बताया है। विष्णु भागवत पुराण (११।१८।४०.१) में कृष्ण ने उद्धव से 'ऐश्वर-भाव' या 'महेश्वर-भाव' को 'भगः' कहा है—'भगो मे ऐश्वरो भावः।' इसका पाठान्तर भी मिलता है—'भगो महेश्वरो भावः'। उसी के अनुसार ऐश्वर्यादि छः गुणों

---

[1] भग = 'भज्यते अनेनास्मिन् वेति एतदाश्रितैव कन्दर्पं सेवते इति भावः; भज् सेवायां घञ्।' (शब्द-कल्पद्रुमः)

तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १।१।२।४ में—'भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी।' अन्यत्र भी है—'फल्गुनी-नक्षत्रं भगो देवता' अर्थात् सूर्य जब उत्तर-फल्गुनी-नक्षत्र में अधिष्ठित होता है—जब वह 'भग' नाम से अभिहित होता है, तब उसकी प्रजनन-शक्ति प्रसिद्ध होती है। इसी से यह नक्षत्र विवाह के पक्ष में प्रशस्त कहा गया है। (रामायण, १।१२।१३; महा-भारत, १।८।१६)। जो हो, इसी भग-देवता के सङ्ग स्त्री-भग का सम्बन्ध सूचित होता है।

[2] यथा 'विष्णु-पुराण', ६।५।७४ में एवं 'सात्वत-तन्त्र', ३।७,१० में वीर्य के स्थान में 'धर्म' है। उत्पलाचार्य-धृत वचन में 'वीर्य' के स्थान में 'मोक्ष' पाठ है ('स्पन्द-प्रदीपिका', काशी, पृष्ठ ८)। बौद्ध शास्त्र में 'वीर्य' के स्थान में 'रूप' और 'वैराग्य' के स्थान में 'प्रयत्न' है। (दशभूमि शास्त्र,.....२६।२८२; अभिसमयालङ्कारालोक, बड़ोदा-सं०, पृष्ठ ६)।

की गुण-राशि के उप-लक्षणात्मक रूप में ईश्वर-भाव या ऐश्वर्य का उल्लेख है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में 'भग'-शब्द की एक अन्य प्रकार की निरुक्ति पाई जाती है।

उक्त 'भग' जिसके है, व्याकरण-शास्त्र के नियमानुसार, वह पुल्लिङ्ग में 'भगवान्' और स्त्री-लिङ्ग में 'भगवती' है। इन नामों की अन्य निरुक्ति भी पुराणादि में पाई जाती है। यथा, कहा है कि 'जो सब भूतों की उत्पत्ति व प्रलय और आगति व गति तथा विद्या वा अविद्या को जानता है, उसे 'भगवान्' कहा जाता है। (सत्वादि प्राकृत) हेय-गण-समूह-रहित सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज जिसमें है, वही 'भगवत्' शब्द से वाच्य है (विष्णु-पु०, ६।५।७८-९; ब्रह्म-पु०, २३३।६६.२-६८.१; नारद-पु०, १।४६।२१-२; अग्नि-पु०, ३७९।१३-४—इसी चरण का प्रथम भाग 'शिव-पुराण' में भी मिलता है; सनत्कुमार-संहिता, ६।२७.२-२८.१।

'शिव-पुराण' में है—'भं वृद्धिं गच्छति' अर्थात् जो 'भ' या 'वृद्धि' को प्राप्त हो, वही 'भग' है।[1] इसी अर्थ की निरुक्ति से 'भग'-शब्द का अर्थ है 'प्रकृति'। भग का स्वामी 'भगवान्'। वह शिव है (देखें—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वेत० उ०, ४।१०.१)। 'भगवान्' या 'भग-स्वामी' को ही पण्डित-गण ने 'भर्ग' कहा है ('शतपथ-ब्राह्मण' में माध्य, ५।४।५।१ 'वीर्यं वै भर्ग' अर्थात् 'वीर्य ही भर्ग है')। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के मत से अजड़ स्वात्म-सम्बोधि एवं सर्व-नित्य सर्वावहगाहन को गुण-चिन्तकों ने 'ज्ञान' नामक पहला गुण बताया है। इसे ब्रह्म का स्वरूप एवं गुण भी कहा गया है।

जो जगत्-प्रकृति-भाव है, वह 'शक्ति' कहकर वर्णित हुआ है। उसका जो स्वातन्त्र्य-परिवृंहित कर्तृत्व है, उसे गुण-तत्वार्थ-चिन्तकों ने 'ऐश्वर्य' नाम से अभिहित किया है। सतत जगत् (अर्थात् जगत् की सृष्टचादि) करते हुए भी जो उसकी श्रम-हानि (उसे श्रम होता नहीं) है, वह गुण-चिन्तकों की कृति है, उसे उसका 'बल' नामक गुण बताया है। (जगत् के) उपादान-भाव के सत्व में भी जो उसका विकार-विरह (अर्थात् निर्विकारता) है, वही 'वीर्य' नामक गुण है। उसका दूसरा नाम है 'अच्युतत्व'।[2] सह-कार्यनपेक्षा (अर्थात् जगत् की सृष्टचादि में किसी सहकारी कारण की निरपेक्षता) 'तेज'

---

[1] अग्नि-पुराण का (३७९।१०) है। भकार का अर्थ 'सम्भर्ता व भर्ता' और गकार का अर्थ 'नेता, गमयिता व स्रष्टा'। 'नारद-पुराण' (१।४६।१६) में भकार का अर्थ 'ज्ञेय' व 'संज्ञात' कहा है।

[2] और भी देखें—'अविकार्य-स्वभावत्वादव्याप्यत्वात्तथाऽच्युतः।' अहिर्बुध्न्य-सं० २।३३.१।

नाम से कही है।[1] इन छः गुणों के होने से ही वह 'भगवान्' नाम से परिकीर्तित होता है (अहिर्बुध्न्य-सं०, २।२८.१)। इसके अतिरिक्त शक्त्यादि पाँच ज्ञान के ही गुण कहे गए हैं। ज्ञान ही परमात्मा ब्रह्म का पर - रूप है। वही पर-ब्रह्म स्व-शक्ति-परिवृंहित षाड्गुण्य है (अहिर्बुध्न्य-सं० २।६१.२-६२)। 'ज्ञानैश्वर्य-बलादि गुण-समूह शक्ति-मय है।'[2]

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' से अन्यत्र 'भगवान्'-संज्ञा के स्थूल, सूक्ष्म और पर—ये तीन प्रकार के अर्थ निर्दिष्ट हुए हैं। 'यह भगवान्-शब्द समुदाय द्वारा पूज्यार्थक है। वह सदा अखिल विश्व को धारण और पोषण करता है एवं अपने ही द्वारा इसका भरण अर्थात् पूरण करता है तथा सम्भरण भी करता है। भकार का सूक्ष्म अर्थ यही त्रयी-कर्मात्मक कह कर निरूपित हुआ है। निखिल शब्द-समूह द्वारा (वह) गीत होता है और मुमुक्षुओं द्वारा (अव) गत होता है; वह स्वतः सब जानता है और निखिल जगत् को व्याप्त करता है; वह निखिल अर्थों का नेता भी है—हे मुनि! (सूक्ष्म) गकार का अर्थ यही कहकर स्मृत होता

---

[1] अहिर्बुध्न्य-सं० २।५६-६१.१; लोकाचार्य के 'तत्व-त्रय' का बर्बर-मुनि-रचित भाष्य भी द्रष्टव्य। चौखम्बा संस्कृत सिरीज, पृष्ठ १८।

इसकी कुछ भिन्न प्रकार की व्याख्या भी पाञ्चरात्र-संहिता में मिलती है। उत्पलाचार्य द्वारा 'कक्ष्या-स्तोत्र' से उद्धृत वचन में अन्य प्रकार की व्याख्या है। ('स्पन्द-प्रदीपिका', पृष्ठ २६) 'स्वतन्त्र तन्त्र' के मत (३।११-२४) में उत्पत्ति व प्रलय विद्या व अविद्या और आगति व गति—इनका ज्ञान ही 'ज्ञान' नाम से अभिहित होता है। फलतः ज्ञान षड्-विध है। धर्म चतुर्विध है—सत्य, शौच, दया और मौन। वैराग्य भी चतुर्विध है—अमान, व्यतिरेख, ऐन्द्रिय व वशीकृत। ऐश्वर्य अष्ट-विध है—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशिता, वशिता और कामावसिता। भृत्य, अमात्य, सुहृत्, बन्धु, पुत्र, पौत्र, कलत्र, वास, भूषण, कोष, चतुरङ्ग सेना, गृह, भू, अस्त्र-शस्त्र, दुर्ग आदि 'श्री' नाम से कहे हैं। 'यश' कर्म व गुण-भेद से विविध है। कर्म चतुर्विध है—सृष्टि, स्थिति, लय और लीलावतरण। गुण-समूह अपरिमेय होते हुये भी ६२ प्रकार का कहा है—ब्रह्मण्य, शरण्य, भक्त-वात्सल्य, दातृत्व, सत्य, सन्धत्व, शौर्य, औदार्य, आस्तिक्य, प्रसन्नता, शम, दम, इत्यादि। इसमें परिष्कार यह है कि इस व्याख्या में कुछ-कुछ मनुष्य-भाव-सापेक्ष है और कुछ-कुछ ईश्वर-भाव-सापेक्ष। भगवान् कृष्ण को लक्ष्य कर यह व्याख्या की गई है, ऐसा प्रतीत होता है।

[2] वहीं, २।३३.१ प्रकृत पक्ष में ब्रह्म की शक्ति लक्ष्मी या श्री ही षाड्-गुण्य है। (२१।५-६) शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं है। अतः शक्ति षाड्-गुण्य कहने से शक्ति-मान् ब्रह्म भी षाड्-गुण्य है। 'लक्ष्मी-तन्त्र' के मत में, ज्ञान लक्ष्मी का स्वरूप है (२।२५) और शक्त्यादि गुण-पञ्चक 'ज्ञानस्य सृतयः' (२।३५)।

है। ('भग'-शब्द में 'वतुप्' प्रत्यय लगाने से 'भगवत्'-शब्द बनता है। इस प्रत्यय का तात्पर्य यही है—) स्वत्व द्वारा विश्व को वरण करता है ('वृणुते'), वही ईश्वर-रूप से वर्तमान रहता है ('वर्तते') और अखिल काम की वृद्धि करता है ('वर्धयति')। 'वत्' का अर्थ यही कहा गया है (अहिर्बुध्न्य सं० ५२।५६.२-३३)। परार्थ भी इसी प्रकार का है (अहिर्बुध्न्य सं०, ५२।७१)।

पहले कहा जा चुका है कि सेवा-वाचक 'भज'-धातु से भी 'भग'-शब्द बनता है। इस सम्पर्क से भी 'भगवत्' या 'भगवती'-शब्द की निरुक्ति किसी - किसी पुराण में पाई जाती है। जो सभी प्राणियों द्वारा सेवित होता है और जो उनकी सेवा करता है—वही है भगवान् या भगवती। देखें देवी-पुराण—

सेव्यते या सुरैः सर्वैस्तां चैव भजते यतः। धातुर्भजेति सेवायां भगवत्येव सा स्मृता।

श्रुति में और तदनुसारी महाभारत-पुराणादि स्मृति में अनेक देवों और देवियों के नाम हैं, तो यह जिज्ञासा होती है कि भगवान् या भगवती कौन हैं? पुराण में कहीं-कहीं कहा है कि श्रुति में जिसे 'ब्रह्म' या 'विष्णु का परम पद' कहा है, या जिसे 'परम धाम' कहा है, परमात्मा के उसी स्वरूप को 'भगवत्' कहा है; ब्रह्म का यह परम पद प्रकृत-पक्ष में शब्द-वाच्य न होने पर भी पूजार्थ उपचार-क्रम में 'भगवत्' नाम से अभिहित होता है ('विष्णु-पुराण ६।५।७१, नारद-पुराण १।४६।११-१२, १४; अग्नि-पुराण ३७६।६)। कहीं कहा है, 'जिस अद्वय-ज्ञान को तत्त्व-विदों ने 'तत्त्व' कहा है, वही 'ब्रह्म', 'परमात्मा' और 'भगवान्' कहकर वर्णित हुआ है (विष्णु - भाग-पु० १।२।११, ३।३२।३६)।' और भी कहीं कहा है कि सब कारणों के कारण अर्थात् परम कारण महा-विभूति-संज्ञक पर-ब्रह्म के लिए 'भगवत्'-शब्द का प्रयोग हुआ है (विष्णु-पु० ६।५।७२, नारद-पु० १।४६। १५)।

भग की ज्ञानादि उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार अनायास ही ज्ञात होता है कि 'भगवान्'-संज्ञा विशेष भाव में जगत् के सृष्ट्यादि-कर्तृत्व और उसके त्रिविध-कारणत्व की सूचक है। वादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र' के अनुसार ये लक्षण मुख्यतः ब्रह्म के ही हैं। अतः पुराण में ठीक ही कहा है कि ब्रह्म ही भगवान् है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' २।६-७.१ में भी वही बात है। यथा देखें,—'जो अनादि, अनन्त, अक्षय, अव्यय, अजर, ध्रुव और अनाम-रूप-सम्भेद्य, (अतः) अवाङ्ग-मनसोऽगोचर पर-ब्रह्म है वही सर्व-शक्ति-समस्ताख्य-षाड्गुण्य है; वही पर-ब्रह्म स्व-शक्ति-परिवृंहित षाड्गुण्य है (अहिर्बुध्न्य सं०, २।६२.१); षाड्गुण्य-योग के कारण ही (पर-ब्रह्म) भगवान् कहकर परिकीर्तित हुआ है (अहिर्बुध्न्य सं० २।२८६)।

किसी-किसी पुराण में यह भी है कि 'भगवत्'-शब्द मुख्यतः पर-ब्रह्म-भूत वासुदेव का ही बोधक है; अन्यत्र उसका प्रयोग औपचारिक या गौण है।[1] 'महा-भारत' के किसी-किसी स्थान में भी 'भगवान्'-शब्द से केवल विष्णु को ही लक्ष्य किया गया है।[2] अन्य किसी-मत से रुद्र या शिव ही भगवान् हैं। यथा, श्रुति में है, 'यो वै रुद्रो स भगवान्' (अर्थात् रुद्र ही भगवान् हैं)।[3] 'शिव-पुराण' में है, जो ईक्षण करता है,[4] वही निरीक्षणीय है—यह आज्ञा करते हुये भगवान् महा-देव ने स्वयं (भक्त को) आत्म-ज्ञान - रूप योग प्राप्त कराया। इसी से देव - देव महेश्वर देव 'भगवान्' कहे गए हैं।[5] इस वचन का मूल है अथर्वशिरः-श्रुति।'[6] सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि-बोध,

---

[1]विष्णु पु०, ६।५।७६-७, नारद-पु०, १।४६।१८-२०, वृद्ध-हारीत-स्मृति, ६। १६८, और भी देखें विष्णु भाग-पु०, ११।१५।१६.१, १६।२८.१, अग्नि-पु० ३७८।१२ पद्म-पु०, उत्तर-खण्ड, २५४।६६; (विष्णु) भागवत-पुराण' के एक स्थल में कहा है कि भगवान् नारायण निर्गुण ब्रह्म से भिन्न हैं। (देखें ११। १५।१६-७)।

[2]यथा, वर्णित है कि सुन्द व उपसुन्द असुरों को प्रलोभित करने के लिये ब्रह्मा द्वारा आदिष्ट होकर तिलोत्तमा ने उन्हें नमस्कार करती हुई उपस्थित देवता-गण के मण्डल की प्रदक्षिणा की। वहीं, मण्डल में। (महाभा०, १।२११।१६)—

प्राङ्-मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः। देवाश्चोत्तरेणासन् सर्वतस्तृषयोऽभवन्॥'

'भगवान् पूर्व-मुखी होकर बैठे थे। महेश्वर दक्षिण-दिशा में और देव-गण उत्तर-दिशा में थे और ऋषि-गण सब ओर बैठे थे।' ये भगवान् अवश्य ही ब्रह्मा या महेश्वर नहीं हैं। टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है कि वे विष्णु ही (भगवान् विष्णुः) हैं। और भी देखें—महाभा० १।२११।२४।

'विष्णु-पुराण' ६।५।७४ व ७८ के वचन के आधार पर आचार्य शङ्कर ने कहा कि 'ऐश्वर्यादि छः (गुण) इन्हीं वासुदेव में अप्रतिबद्ध रूप से सामस्त्य-रूप में नित्य वर्तमान हैं,···तथा उत्पत्त्यादि-विषयक विज्ञान भी जिनका है, वे वासुदेव ही 'भगवान्' नाम से वाच्य हैं।' (गीता, ३।३७, शङ्कर-भाष्य का उपोद्घात)।

[3]जैमि-प्रा०, अथर्वशिर-उ०; २।१-३२; 'रुद्र-सूक्त' में रुद्र को 'भगव' या भगवन् नाम से सम्बोधित किया गया है। (वाजस० (माध्य) १६।८,५२)

[4]देखें—छान्दोग्य-उ०; ६।२।३; ऐत-उ० १।१।१; ब्रह्म-सूत्र १।१।५।

[5] यदीक्षते च भगवान्निरीक्ष्यमिति चाज्ञया। आत्म-ज्ञानं महा-देवो योगो गमयति स्वयम्।
भगवाँश्चोच्यते तेन देव-देवो महेश्वरः॥ (लिङ्ग-पु० २।१८।२३.२-२४)
सौर-पु०, ४५।४४-४५.१ ('निरीक्षयति चान्यथा' पाठान्तर में)

[6] अथ कामादुच्यते भगवान् माहेश्वरः यस्माद् भक्ता ज्ञानेन भजन्त्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान् भावान् परित्यज्यात्म-ज्ञानेन योगेश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान् महेश्वरः॥ (अथर्व-शिरोपनिषत्)।

स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त-शक्ति एवं अनन्त-शक्ति—इन छः को शैव शास्त्र में महेश्वर का 'षडङ्ग' बताया है (वायु-पुराण १।१२।३१)। ये सभी ज्ञानादि षड्-गुण के ही नामान्तर मात्र हैं। स्व-कृत 'स्पन्द-प्रदीपिका' (पृष्ठ २६) में आचार्य उत्पल ने प्रामाणिक वचन उद्धृत कर इसे प्रदर्शित किया है। सर्वज्ञता = ज्ञान, तृप्ति = बल, अनादि-बोध = तेज, स्वतन्त्रता = ऐश्वर्य, नित्य-अलुप्त-शक्ति = वीर्य और अनन्त-शक्ति = शक्ति। अतः शिव के षडङ्ग उनके भग ही हैं। अतएव वे भगवान् हैं।

वस्तुतः मुख्य प्रयोग और गौण प्रयोग की कल्पना का कोई प्रकृत मूल नहीं है। यह साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता मात्र प्रतीत होती है। अथवा यह केवल अर्थ-वाद मात्र हो सकता है। स्व-स्व इष्ट-देवता के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण उनके महत्व को बढ़ाने के लिए भक्त लोग सोचते हैं कि 'भगवत्'-शब्द का मुख्य प्रयोग एकमात्र उन्हीं के लिए है, अन्य देवता के लिए इसका प्रयोग गौण है। इसके ऊपर श्रुति का सिद्धान्त यह है कि देवता बहुत नहीं हैं, एक ही है,—समस्त देव-नाम एक ही परम देवता या आदि-देव के विभिन्न कर्म-नाम का समूह मात्र है। तब बहु-देवों के सद्भाव का अङ्गीकार और उनकी तारतम्य-कल्पना अज्ञता के सिवा और कुछ नहीं है। पुराणादि में ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये ही तीन मुख्य देवता प्रसिद्ध हैं। परन्तु वहीं यह भी अत्यन्त स्पष्ट वाक्य में व्यक्त हुआ है कि ये तीन एक ही के तीन कर्म-नाम मात्र हैं;—एक ही परम देवता के,—परं-ब्रह्म के या परम पुरुष के। विश्व की सृष्टि करने से 'ब्रह्मा', पालन करने से 'विष्णु' और संहार करने से 'रुद्र' या हर नाम से अभिहित किया गया है (देखें—(विष्णु) भाग-पु०, १।२।२३, ८।७।२३; विष्णु-पु०, १।२।६६)। यह परम देव भगवान् हैं। अतः ब्रह्मा, विष्णु और हर भगवान् हैं। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के मत में, षाड्गुण्य पर-ब्रह्म, परमात्मा, ॐ, भगवान्, वासुदेव, आत्मा, अव्यक्त, सर्व-प्रकृति, प्रधान, अच्युत, कपिल, कापिल, हिरण्य-गर्भ, अपान्तरतप, शिव आदि नामों से अभिहित है। (२। २६.२-३६)।

वेद में, केवल भग-देवता को नहीं (अथ-सं०, १६।४।३), अग्नि, रुद्र और इन्द्र को भी 'भगव' या भगवान्' कहकर सम्बोधित किया है।[1] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में विराट् पुरुष को या सगुण ब्रह्म को 'भगवान्' (श्वेत-उ०, ३।११; ५।४) व 'भगेश' (श्वेत-उ०, ६/६) कहा है। महाभारत में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, यम, सोम आदि देवताओं को 'भगवान्' कहा है। केवल महत्व और पूज्यत्व-सूचक रूप में भी 'भगवत्' (या 'भगवती') शब्द का व्यवहार है—'भगवानिति पूज्यार्थः शब्दोऽयं समुदायतः—' अहिर्बुध्न्य-सं०, ५२।५६.२। इसी अर्थ में वैदिक ऋषि को, तथा अन्यान्य महद् व्यक्ति को 'भगवान्' कहकर सम्बोधित किया गया है।

[1] देखें—वाज-स० (माध्य), १७/७८ अग्नि को; १६/६,५२ व ५३ रुद्र को, ३६/२१ इन्द्र को; तैत्ति-ब्रा० २/३/१०/१ प्रजा-पति को।

उपनिषद् में ऋषियों को प्रायः 'भगव' या 'भगवान्' कहकर सम्बोधित किया है और 'भगवान्' कहा है। अवैदिक जैन और बौद्ध साहित्य में भी इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं। हरिभद्र ने लिखा है—'क्लेशः कर्म तथा जन्म क्लेशाजेयावृती तथा। येन वैपक्षिका भग्नास्तेनेह भगवान् स्मृतः॥' इस निरुक्ति के अनुसार 'क्लेशादिकं भग्नवानिति भगवान्' अर्थात् क्लेशादि भग्नवान् कहने से ही बुद्धदेव 'भगवान्' हैं। समग्र ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, ज्ञान व प्रयत्न—इन्हीं छः भग से सम्पन्न होने से बुद्ध भगवान् हैं। (अभि-समयालङ्कारालोक, पृष्ठ ६)। 'विष्णु-धर्मोत्तर पुराण' (३।२।४२.१) में कहा है कि ऋषियों को, देवताओं को और गुरुओं को 'भगवान्' कहकर सम्बोधित करना कर्तव्य है।

'देवी-भागवत पुराण' में है, ज्ञान, समृद्धि, सम्पत्ति, यश और बल—ये सभी भग हैं। तत्-सम्पन्न ऐश्वर्य व पराक्रम-स्वरूप है और उसे देनेवाली शक्ति को 'भगवती' कहते हैं। वह सदैव भग-रूपा है (अर्थात् उसके भग उससे भिन्न नहीं हैं)। उससे युक्त होकर ही परमात्मा 'भगवान्' कहे गए हैं (देवी-भाग-पु०, ६।२।१०-१२.१)। 'ब्रह्म-वैवर्त-पुराण' में है, 'आब्रह्म-स्तम्ब-पर्यन्त समस्त निश्चय ही कृत्रिम और मिथ्या है। जिस प्रकार भगवान् सत्य-स्वरूप हैं, उसी प्रकार उनकी प्रकृति दुर्गा सत्य-स्वरूपा हैं। सिद्धि, ऐश्वर्य, आदि सभी उसमें युग-युग में (अर्थात् सतत) वर्तमान हैं। सिद्धादि भग कहकर ज्ञेय हैं। इसी से वे भगवती कही गई हैं (ब्रह्म-वैवर्त-पु०, प्रकृति-खण्ड, ५७।१५-६)।

अथर्व-वेद में भी जङ्गिरा नामक औषधि-विशेष को 'भगव' (अथ-सं०, १६।३४।८) और तारका-विशेष को भी 'भगवती' कहा है (वहीं, २।८।१; ६।१२६।३; और भी देखें—तैत्ति-आ०, २।६।१)। उपनिषद् में पशु-पक्षी के लिए भी 'भगवान्' सम्बोधन के दृष्टान्त हैं। छान्दोग्य-३०४/५/१-२, ४/७/२-३, ४/८/२-३, ४/६/२-३ वचनों में अग्नि के लिये 'भगवन्' सम्बोधन है।

वेद के एक मन्त्र में ऋषि ने अपने एक हाथ को 'भगवान्' और दूसरे हाथ को 'भगवत्तर' कहा है (ऋक्-सं०, १०।६१।१२; अथ-सं०, ४।१३।६)। भाष्यकार सायणाचार्य के मत से, यहाँ 'भग'-शब्द का अर्थ है 'भाग्य', अतः 'भगवान्' का अर्थ है 'भाग्यवान्'। इसी प्रकार 'भगवान्' शब्द का अर्थ 'वीर्यवान्', 'बलवान्' या 'शक्तिमान्' भी हो सकता है। जो हो, इस अर्थ में 'भगवत्तम' शब्द का भी व्यवहार वेद में पाया जाता है (अथ-सं०, २।६।२)।

यहाँ एक और बात कहनी उचित लगती है। श्रुति में किसी-किसी देवता व ऋषि को कहीं-कहीं 'भग' कहा है, देखें (तैत्ति-उ०, १।४।३)। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में महर्षि याज्ञवल्क्य को 'भगोः' कहकर भी सम्बोधित किया गया है (वृह-उ०, २।४।२; ४।५।३)। वेद-संहिता में अग्नि, इन्द्र, वायु, आदि देवताओं को 'भग' कहने के दृष्टान्त हैं।[1] जो-जो देवता, ऋषि या वस्तु जो-जो गुण-प्रधान हैं, उन्हें उस-उस गुण के नाम

[1] अग्नि को—ऋक्-सं० २/१/७; १/१४१/११, इन्द्र को—वहीं २/११/२१ = १५/१०=१६/१६; ३/५६/६; ७/४१/३, वायु को—वहीं १/१३४/५।

से उल्लेख करने की प्रथा वेद में प्रचलित थी। इसी के प्रति लक्ष्य करके आचार्य वादरायण ने कहा है, 'तद्-गुण-सारत्वात्तु तद्-व्यपदेशः'। (ब्रह्म-सूत्र, २।३।२९)

अतः इन सभी स्थलों में 'भग-प्रधान' या 'भगवान्' अर्थ में ही 'भग'-शब्द का व्यवहार हुआ है, ऐसा समझना होगा। अग्नीन्द्रादि देवताओं को जो वेद में स्पष्टतः 'भगव' या 'भगवान्' भी कहा है, वह पहले बता चुके हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य को जिस प्रकार मैत्रेयी ने एक बार 'भगोः' कहा है, उसी प्रकार, और उससे अधिक बार, 'भगवान्' कहा है। 'स्कन्द-पुराण' में है कि 'भग' विष्णु का ही नाम-विशेष है। वहाँ इस नाम की निरुक्ति भी दी है—'जिस कारण वे सब लोकों में भात हैं ('भाति') और भूर्भुवादि से गीत हैं ('गीयते'), उसी कारण सब भूतों में प्रविष्ट विष्णु 'भग' नाम से स्मृत हैं। सर्व-देव-मय व महान् उनमें (सर्व-भूत में) प्रवेश हेतु ('विशनात्') वे 'विष्णु' कहकर अभिहित होते हैं। भासन और गमन के कारण भी ('भासनाद् गमनाच्चैव') वे 'भग' नाम से प्रकीर्तित हैं।' स्कन्द-पु०, ५।३।१४।२१-२।

'कपिञ्जल-संहिता' नामक एक पाञ्चरात्र-संहिता के मत से एक श्रेणी के वैष्णव 'भगवान्' नाम से अभिहित होते हैं। भगवान् वैष्णव के विशेष लक्षण यही हैं कि वे एक-दण्डी और शिखा-यज्ञोपवीतादि-परित्यागी होते हैं। कपिञ्जल-सं०, ४।१८.२-२०.१।

यह भी बोध होता है, कहना उचित है कि परमेश्वर को जिस प्रकार 'भगवान्' या भग-युक्त कहा है, उसी प्रकार कहीं-कहीं भगहन् या भग-हन्ता भी कहा है, देखें। यथा विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्र में है, विष्णु 'भगवान् भगहा।' महाभा०, १३।१४९।७३; गरुड़-पुराणोक्त विष्णु-सहस्रनाम में है—'भगहा भगवान् भानुस्तथा भागवतः स्वयम्।' (१।१५।८२.१)। शिव-सहस्रनाम-स्तोत्र में है, शिव 'भगवान्' व 'भग-हारी'। महाभा०, १४।१७।३३.२, ७६.२ व लिङ्ग-पु०, १।६५।५७.१, ९८.१। टीकाकार का विचार है कि संहार-काल में ऐश्वर्यादि 'भग' का हनन या हरण करने से परमेश्वर को 'भगहा' या 'भग-हारी' कहा है। इस व्याख्या के अनुसार समझना होगा कि यहाँ भग के विकाश व सङ्कोच या आविर्भाव व तिरोभाव को लक्ष्य किया गया है।

परमेश्वर सृष्टि-काल में अपने भग का विकाश करते हैं, तब भग का आविर्भाव होता है,—भग व्यक्त होता है, अतः उस समय उन्हें 'भगवान्' कहा है; और संहार-काल में वे इस भग का सङ्कोच करते हैं, तब भग का तिरोभाव होता है,—भग अव्यक्त होता है, अतः उस समय उन्हें 'भग-हन्' या 'भग-हारी' कहा है। इसी प्रकार भग का अप्रकट व प्रकट अवस्था या बीज-भाव व अंकुर-भाव विभाग होने से भी वे कभी भग-विरहित नहीं होते, अतः उस दृष्टि से वे नित्य भगवान् हैं।

जो हो, उपर्युक्त विवरण से अति निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि पर-ब्रह्म को, ब्रह्मा-विष्णु-शिवादि देवताओं को और दुर्गादि देवियों को, तथा राम, कृष्ण, आदि भगवान् के अवतार कहकर उल्लिखित महा-पुरुषों को, भक्त और उपासकों को 'भागवत'

कहा जाता है। 'महाभारत' के एक स्थल में स्वयं नारायण को 'भगवान्' और 'भागवत' दोनों ही कहा है। 'गरुड़ पुराण' में उसी प्रकार विष्णु को कहा है। 'पाद्म-संहिता' (४।२१।२१.२) में है–'भगवानेव गोविन्दः साक्षाद् भागवतः स्मृतः।'

इसका वास्तविक दृष्टान्त भी प्राचीन शास्त्रादि में पाया जाता है। वासुदेव, नारायण या विष्णु के उपासक को 'भागवत' या 'महा-भागवत' कहने के असंख्य दृष्टान्त महाभारत, पुराणादि में हैं। यथा, देखें महाभा० १२/३३५/१७, २१-२, ३३७/१; अग्नि-पु०, ३७/३८.२; (विष्णु) भाग-पु०, ५/१६/२४.१ = देवी-भाग-पु०, ८/११/२५.१; लिङ्ग-पु०, २।४।५-१६, नारद-पु०, १/५/५२, ६१, ६४।

मध्य-भारत में,–ग्वालियर-राज्यान्तर्गत भिल्सा-नगरी के सन्निकटस्थ बेस्-नगर में प्राप्त एक शिला-लेख (१५० ख्रीष्ट-पूर्वाब्द-काल के) में 'देव-देव वासुदेव' के भक्त–उनके गरुड़-ध्वज-निर्माता हेलिव दोर को 'भागवत' कहा है। इस स्थान में प्राप्त एक अन्य शिला-लिपि में (१०० ख्रीष्ट-पूर्वाब्द-काल की) 'भगवत् के प्रासादोत्तम में' गरुड़-ध्वज-निर्माता गौतमी-पुत्र को 'भागवत' कहा है।

राजपूताना के चित्तौड़ के सन्निकटस्थ घोसुण्डि-ग्राम में प्राप्त इस समय के एक शिला-लेख में 'भगवान् सङ्कर्षण और वासुदेव' के 'पूजा-शिला-प्राकार'-निर्माता राजा गाजायन को 'भागवत' कहा है। उसके परवर्ती काल के शिला-लेख में और भी अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। सभी का उल्लेख निष्प्रयोजन है। कृष्ण-भक्त की 'भागवत' आख्या के दृष्टान्त पुराणादि में बहुत मिलते हैं। 'मुक्तिकोपनिषद्' १/१ में राम के भक्त को 'भागवत' कहा है, और भी देखें–रामोत्तर-तापिनी उपनिषद् में 'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैत-परमानन्द आत्मा'। भगवान् मत्स्यावतार के भक्त मनु को 'महा-भागवतोत्तम' कहा है। देखें देवी भा० पु०, ८/६/२३.२। 'वराह-पुराण' १३०/८ में वराहावतार के भक्तों को 'भागवत' कहा है। इस प्राचीन-काल में शिव-भक्तों को भी 'भागवत' कहा है। व्याकरण-महा-भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि (१५० ख्रीष्ट-पूर्वाब्द) ने 'शिव-भागवत' का उल्लेख किया है। देखें पाणिनि ५/२/७६ सूत्र की पातञ्जलि-कृत व्याख्या। और भी देखें, चन्द्रधर गुलेरी, 'आन शिव-भागवत इन पातंजलीज महा-भाष्य', वाल्यूम ४१ (१९-१२), पृष्ठ २७२। इससे स्पष्ट है कि 'भागवत'-शब्द के साथ 'शिव'-शब्द संयुक्त था।

पतञ्जलि के समय में अन्य भागवत भी वर्तमान थे; उनके पार्थक्य का निर्देश करने के लिए ही पतञ्जलि ने शिव-भक्त भागवत को 'शिव'-शब्द द्वारा विशिष्ट किया है; अन्यथा उक्त संज्ञा में 'शिव'-शब्द के व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं था। इस समय वासुदेव के भक्त-गण भी 'भागवत' नाम से परिचित थे, यह पूर्व उल्लिखित शिला-लेख-समूह से निश्चित रूप से ज्ञात होता है।

'शिव-पुराण' के वक्ता सूत को नैमिषारण्य-वासी ऋषियों ने 'भागवतोत्तम' कहकर सम्बोधित किया था। देखें शिव-पु०, ज्ञान-सं०, १२/१.१। सूत शिव के ही भक्त थे,

इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः इससे भी ज्ञात होता है कि शिव-भक्त को भी पहले 'भागवत' कहा जाता था। 'नारद-पुराण' १/५/६८ में इस विषय में बड़ा स्पष्ट वचन है—'जो शिव-प्रिय, शिवासक्त और शिव-पादार्चन-रत तथा त्रिपुण्ड्र-धारी है, वह निश्चय ही भागवतोत्तम है।' नारद-पु०, १/५/७३—'जो शिवाग्नि-कार्य-निरत', ('नमो शिवाय'—इस) पञ्चाक्षर (मन्त्र) के जप में रत और शिव-ध्यान-रत है, वह निश्चय ही भागवतोत्तम है।' इसी प्रकार सात्विक विष्णु-भक्त को भी अवश्य 'भागवतोत्तम' कहा है। देखें नारद-पु० १/५/५२,६१,६४। यह भी परिष्कार-भाव से कहा है कि जो विष्णु या शिव किसी का भी नाम जप करता है और भक्ति-पूर्वक उनकी पूजा करता है, वह निश्चय ही भागवतोत्तम है। देखें नारद-पु०, १/५/६८-७०।

शिवे च परमेशे च विष्णौ च परमात्मनि।
सम-बुद्धया प्रवर्तन्ते ते वै भागवताः स्मृताः॥[1]

'परमेश्वर शिव और परमात्मा विष्णु के प्रति सम-बुद्धि रखकर जो (उपासना में) प्रवृत्त होता है, उसे ही भागवत कहते हैं।' 'नारद-पुराण' में वर्णित है कि देवर्षि नारद के अनुरोध से महर्षि सनत्कुमार ने उनके लिए 'भागवत-तन्त्र' की व्याख्या की थी। देखें नारद-पु० १/६३/६ व १२। उसके प्रारम्भ में शैवागम - मत की व्याख्या है,[2] फिर वैष्णवागम-मत की। जो हो, इससे यह निश्चत रूप से सिद्ध होता है कि शैवागम-मत को भी उस समय भागवत मत कहते थे।

शिव-पुराण की एक उक्ति में कथित (देखें पृष्ठ ४) हुआ है कि भगवान् ही किन्हीं-किन्हीं पण्डितों के मत से 'भर्ग' कहे गये हैं। इससे भर्गोपासक या गायत्री-उपासक को भी भागवत कहते हैं। 'नारद-पुराण' १/५/६३.२ और 'स्कन्द-पुराण' २/१/२१/५२.२ में इस विषय में स्पष्ट वचन भी हैं—'गायत्री-निरता ये च ते वै भागवतोत्तमाः' (जो गायत्री-निरत हैं, वे भी निश्चय ही भागवतोत्तम हैं)।

'शिव-पुराण', ज्ञान-संहिता, ५८वें अध्याय में सुधन्वा नाम के एक मनुष्य-सद्-ब्राह्मण की कथा है। यहाँ उसका उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। कहा है कि वह 'सर्वदा ब्रह्म-वित्तम', 'वेद-मार्ग-पर', 'नित्य-अग्नि-सेवा-परायण' और 'देवता व अतिथि का पूजक' था। वह बड़ी श्रद्धा के साथ त्रिकाल-सन्ध्या करता था। वेद-शास्त्र में वह विचक्षण था और शिष्यों को उन्हें पढ़ाता था। वह 'ज्ञान-परायण' था। 'वह जानता था कि आत्मा ही आत्मा का तारक है और आत्मा ही आत्मा का पावक (या पवित्र-कारक) है।' 'वह परम सन्तुष्ट था और सुख व दुःख दोनों को ही सम-भाव से त्याग

[1] नारद पुराण, १/५/६२। अन्यत्र कहा है कि आदि-देव को कोई शिव, कोई विष्णु और कोई ब्रह्मा कहते हैं। (१/३/५.२—६.१), और भी देखें, १/६/४४-५०।

[2] वहीं, १/६३/१३।

दिया था।'[1] 'देवता-पूजक होते हुये भी शिव और विष्णु के प्रति उसमें भेद-बुद्धि नहीं थी। उसने अपनी पहली स्त्री से 'हरि की परिचर्या' करने को और दूसरी स्त्री से 'शिव-पूजा' करने को कहा। इस विवरण से यह सहज ही बोध होता है कि सुधन्वा वेद-मार्गानुयायी आदर्श सत्-प्रकृति का ब्राह्मण मात्र था। परन्तु 'शिव - पुराण' (५८/१२.२) में यह भी स्पष्ट कहा है कि वह 'भगवद्धर्म-तत्पर' था, 'वह धर्म-कर्म-रत' और भगवद्-ध्यान-तत्पर था।' (वहीं, ५८/२७/.२)। इस रूप में उसे अवश्य ही भागवत कहा जायेगा।

इससे यह निरूपण करना होगा कि वेद-शास्त्रानुयायी सद्-व्यक्ति भी भागवत है। किसी-किसी पुराण में इस विषय में प्रत्यक्ष वचन भी हैं—'जो अपने आश्रम के आचार में निरत, अतिथि-पूजक और वेदार्थ-वक्ता है, वह भी निश्चय ही भागवतोत्तम है।' देखें नारद-पु०, १/५/६७ व स्कन्द-पु०, २/१/२१/४६।

'स्कन्द-पुराण' के वैष्णव-खण्ड में भगवान् विष्णु द्वारा भागवत के लक्षण व कर्म वर्णित हैं।[2] 'जो सब प्राणियों का हितकारी, असूया-रहित, विमत्सर, निःस्पृह, शान्त और ज्ञानी है, वही भागवतोत्तम है। जो मन, वाणी और कर्म द्वारा पर-पीड़ा नहीं करता और अपरिग्रह-शील है, वही भागवतोत्तम है।' देखें स्कन्द-पु०, २/१/२१/४०-१। 'जो नरोत्तम-गण पिता-माता की शुश्रूषा करते हैं, जो देवार्चन-रत, देवता

---

[1] शिव पु०, ज्ञान-सं० ५८/१-१३ देखें ४.१। वहीं, ५८/२६ व ३७।

[2] 'स्कन्द-पुराण' के वैष्णव-खण्ड के अन्तर्गत वेङ्कटाचल-माहात्म्य में आकाश-गङ्गा-तीर्थ के माहात्म्य-वर्णन के प्रसङ्ग में 'रामानुज-नाम से ख्यात, सर्व-शास्त्र-पारग, जितेन्द्रिय व विष्णु-भक्त' (२/१/२१/२) एक ब्राह्मण का वृत्तान्त है। उन 'धर्मात्मा ने वैखानस-मत में स्थित होकर तपस्या की।' (२/१/२१/३.१) उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् विष्णु उनके सम्मुख आविर्भूत हुये और उनके अनुरोध से भागवत के लक्षण व कर्म का वर्णन किया (२/१/२१/४०-६१)।

वेङ्कटाचल आचार्य रामानुज के अनुयायी श्रीवैष्णव-गण का परम पुण्य तीर्थ है। उससे कोई-कोई अनुमान करते हैं कि उक्त रामानुज नामक ब्राह्मण और आचार्य रामानुज अभिन्न व्यक्ति हैं। परन्तु इसका कोई निश्चयात्मक हेतु नहीं है।

तान्त्रिक वैष्णव मत का एक उप-विभाग वैखानस-मत नाम से ख्यात है। उक्त रामानुज द्वारा अनुसृत वैखानस-मत वही वैखानस-मत नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। कहा है कि रामानुज ग्रीष्म में पञ्चाग्नि के मध्य, वर्षा में मुक्त आकाश के नीचे और शीत-काल में जल के मध्य रहकर हृदय में जनार्दन का ध्यान करते हुये अष्टाक्षर मन्त्र का जप करते थे। वे कुछ काल जीर्णपत्र, कुछ काल जल और कुछ काल वायु भक्षण करते हुये व्यतीत करते थे। इस प्रकार की कठोर तपस्या को भी प्राचीन काल में वैखानस धर्म कहा है।

के साधक और पूजा देखकर आनन्दित होते हैं, वे निश्चय ही भागवतोत्तम हैं।' (वहीं, २/१/२१/४३)। 'जो नरोत्तम सर्व-भूत को आत्म-वत् देखता है, (फलतः) शत्रु व मित्र में तुल्य (भाव-सम्पन्न) है, वही भागवत कहकर स्मरण किया जाता है। जो धर्म-शास्त्र का प्रवक्ता और सत्य-वाक्य-रत है, वह और जो उसकी शुश्रूषा करता है, वह भी निश्चय ही भागवतोत्तम है।' (वहीं, २/१/२१/४६-७)। जो इष्टापूर्त-कारी है, वह भागवतोत्तम है (वहीं, २/१/२१/५१-५२/)। जो गायत्री-निरत है, वह भी निश्चय ही भागवतोत्तम है (वहीं, २/१/२१/५२.२)। 'जो अपने आश्रम के आचार में निरत तथा अतिथि-पूजक है और जो वेदार्थ-वक्ता है, वह भी निश्चय ही भागवतोत्तम है। जो शास्त्र-समूह-ज्ञाता दूसरों के लिए प्रवचन करता है और जो सर्वत्र गुण-ग्राही है, वह निश्चय ही भागवतोत्तम है।' (वहीं, २/१/२१/५६-७)। उपसंहार में भगवान् ने कहा है, 'इस विषय में अधिक कहने का क्या प्रयोजन ? मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ कि जो सद्-गुण के उपार्जन में प्रवृत्त हैं (सद-गुणाय प्रवर्तन्ते), वे ही भागवतोत्तम हैं।' (वहीं, २/१/२१/६१)। भागवत के इन सारे लक्षणों और कर्मों से निरूपित होता है कि प्राचीन काल में केवल विष्णु-भक्त को ही भागवत कहा हो, ऐसा नहीं है, वैदिक शास्त्रानुयायी सभी धार्मिक व्यक्तियों को भागवत कहा है। यह कहा जा सकता हैं कि यहाँ कुल मिलाकर २२ श्लोकों में भगवान् ने भागवत के लक्षण व कर्म का वर्णन किया है, उनमें केवल ५ श्लोकों में विष्णु के प्रति भक्ति का उल्लेख है।

काल-क्रम से 'भागवत'-संज्ञा विशेष रूप से विष्णु और उनके अवतार राम-कृष्णादि के भक्त एवं उपासक के अर्थ में प्रायः रूढ़ हो गई, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि छठे खीष्ट-शतक के मध्य-काल में सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराह मिहिर ने लिखा है, जो-जो विद्वान् लोग जिस-जिस वेवता के 'उपाश्रित' हैं, उस-उस देवता के सेवा-पूजार्थ मन्दिर एवं प्रतिमा की प्रतिष्ठा उन्हीं विद्वान् व्यक्तियों द्वारा स्व-स्व-विधि-अनुसार कराई जाती है; विष्णु की प्रतिष्ठा भागवत लोगों, सूर्य की प्रतिष्ठा 'मग' लोगों, शिव की प्रतिष्ठा स-भस्म द्विज लोगों, मातृ-गण की प्रतिष्ठा मातृ-मण्डल-विद् लोगों और ब्रह्मों की प्रतिष्ठा विप्रों द्वारा कर्तव्य है (बृहत् संहिता, वराह मिहिर प्रणीत, ६०/१८)।

पाद्म-संहिता (२/२/६१-५) में उसी प्रकार कहा है कि विष्णु की पूजा पाञ्चरात्र-परायण भागवत लोगों द्वारा ही करानी चाहिए, सामान्य-देव-मात्र के प्रपूजकों द्वारा उनकी पूजा न कराये; शिव की पूजा शिव-शास्त्रज्ञ शिव-द्विजों द्वारा, सूर्य की पूजा सोमप द्विजेन्द्रों द्वारा, मदन, गणनाथ व सुब्रह्मण्य की पूजा शिव-द्विजों द्वारा और कुबेरादि की पूजा पूजक विप्र द्वारा कराये। 'दुर्गां सम्पूजयेद् देवीं सदा भागवतः स्वयं' (दुर्गा देवी की पूजा सदा भागवत स्वयं करे)। उस विषय में अभिज्ञ 'पारशव' लोगों द्वारा मातृ-गण का अर्चन कराये। 'शास्ता' महा-मोटी की कुलाल-पूजा करे।

ग्यारहवें खीष्ट-शतक के प्रारम्भ में आचार्य यादव प्रकाश ने उसी रूप में लिखा

है कि सुधन्वाचार्य ईशान की; मैत्रक शाक्य-चैत्य की और सात्वत–जिन्हें भागवत नाम से भी कहा है, विष्णु की पूजा करे।[1] (वैजयन्ती यादव प्रकाश प्रणीत, गुस्तव ओपार्ट द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ८०, पंक्ति २०७-६)।

उनके कुछ पहले उत्पल भट्ट (८६६ खीष्टाब्द) ने लिखा है, 'हर अर्थात् ईश्वर-भक्त भट्टारक···केशव-भक्त भागवत।' (वराह मिहिर के 'वृहज्जातक' के श्लोक १५/१ का उत्पल भट्ट-विरचित भाष्य)। किसी-किसी पुराण में भी उसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। यथा, 'ब्रह्म-पुराण' (५६/६४) में देखें, शैव और भागवत भिन्न-भिन्न हैं, भागवत—विष्णु-भक्त। आचार्य यामुन (जन्म ८५३ खीष्टाब्द) के एक वचन में भी है कि सात्वत या भागवत राजा की आज्ञा से विष्णु के आयतन-समूह की पूजा करे। ('आगम-प्रामाण्य', यामुनाचार्य-प्रणीत, काशी-सं०, पृष्ठ ८)।

'शब्द-कल्पद्रुम' में उद्धृत 'पद्म-पुराण' (उत्तर खण्ड) में है, '(अन्य) सभी देवताओं को छोड़कर जो भगवान् का आश्रय ग्रहण करता है और नित्य उनकी सेवा में रत रहता है, वह भागवत नाम से कहा जाता है।' प्रकरण से ज्ञात होता है कि यहाँ भगवान् शब्द से हरि को लक्ष्य किया है। इससे कुछ आगे है, 'भगवती लक्ष्मी सहित भगवान् श्रीहरि और श्रीभागवत-शास्त्र जिसके भक्ति-पूर्वक इष्ट हैं, वही भागवत है।' 'लिङ्ग-पुराण' (२/४/१३.१) के एक स्थल में है, जो नित्य नारायण-पर है, वह महा-भागवत है।' कुछ आगे कहा है कि महा-भागवत = वासुदेव-पर = वैष्णव (वहीं, २/४/१६)। 'गरुड़-पुराण' (१/२२७/६.२-८.१) के मत से जो भक्ति-वश विष्णु में और ब्राह्मण में सर्वान्तःकरण से भाव निवेशित करता है, उनकी कथा सुनने में जिसे प्रीति है, नेत्र से अश्रु गिरते हैं और अङ्ग-विक्रिया होती है एवं उनके भक्तों के प्रति जिसे वात्सल्य है, उनका पूजन व अनुमोदन करता है, कृतात्मत्व-हेतु है, वह महा-भागवत है।' 'सूत-संहिता' (४-१/१३/३८) में भी शैव व भागवत को भिन्न बताया है। 'पद्म-पुराण' (उत्तर खण्ड, ८३/१८) में है, जो गोपाल, कृष्ण या राम (अर्थात् भगवान् विष्णु के अवतार) की मूर्ति की पूजा करता है, वह भागवत है। 'परम-संहिता' (३/३६-३८) व 'पाद्म-संहिता' में है, 'समय, समाचार, स्वाध्याय, द्रव्य-संग्रह, शुद्धि, योग, स्तुति और ध्यान—इस अष्ट-विधि से जो भगवान् हरि की अर्चना करता है, वह भागवत है।' 'पद्म-संहिता' (४/२/८८-८९.१) में और भी कहा है कि जो इस प्रकार नहीं करता, वह पापी है, वह भागवत नहीं है। भग या ज्ञानादि-गुण-सङ्घात-युक्त भगवान् में जिसकी भक्ति है, वह भागवत है। 'स्कन्द-पुराण' २/६/२०/६१-४) के मत से विष्णु-मन्दिर में मूर्ति-प्रतिष्ठा भागवत आचार्य करें और

---

[1] 'मनुस्मृति' (१०/२३) में है कि व्रात्य वैश्य द्वारा स्व-वर्णा स्त्री से उत्पन्न पुत्र सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत नामों से अभिहित हैं। ईशान-पूजक सात्वत या सुधान्वाचार्य से पार्थक्य दिखाने के लिये ही कहा है कि विष्णु का पूजक 'सात्वत भागवत' नाम से अभिहित होता है।

उनके सहकारी मूर्ति-रक्षक लोग भी वैष्णव या भागवत हों। (वहीं, १८/३८; १९/५३)। स्थापित होनेवाले शिव-गणेशादि अन्य देवताओं की पूजा भी वही करें (वहीं, १९/५३)।

भागवत-संज्ञा का यह अर्थ-सङ्कोच कब से हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। वराह मिहिर के ग्रन्थ में उसे देखकर प्रतीत होता है कि उनके समय अर्थात् छठे ख्रीष्ट शतक के मध्य भाग के पहले से उसका अन्ततः आरम्भ हुआ। इस समय यह सर्व-साधारण के बीच प्रचलित हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है। कहना होगा कि 'नारद-पुराणादि' जिन ग्रन्थों में प्राचीन व्यापक अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग पाया जाता है, वे सभी ग्रन्थ इस समय के पूर्व के हैं।

'स्कन्द-पुराण' के वैष्णव-खण्ड (२/९/२०/६१-४) में जिस प्रकार व्यापक अर्थ में 'भागवत'-संज्ञा की व्याख्या की गई है, एक स्थल पर उसी प्रकार संकुचित अर्थ में भी व्याख्या है। वहाँ कहा है कि—भगवान् वासुदेव को छोड़कर सभी देवताओं को काल और माया के अधीन जानकर उनके प्रति प्रीति छोड़कर गाढ़ स्नेह से एकमात्र उन्हीं की नित्य-सेवा को भक्ति कहते हैं; जो अनन्य बुद्धि से आदरपूर्वक श्रवणादि नौ भावों से उनकी सेवा करता है, वह भक्त है; स्वधर्मादि-त्रय से युक्त यह भक्ति एकान्तिक धर्म नाम से कही है; और इसी प्रकार का भक्त ही भागवत है।[1] 'स्कन्द-पुराण' के जिस अंश में यह वचन है, वह अंश वहाँ बाद में संयोजित हुआ है, ऐसा समझने के यथेष्ट कारण हैं।

जो हो, कालान्तर में भागवत-संज्ञा का प्रयोग और भी सीमित कर दिया गया। 'वृद्ध-गौतम-संहिता' नामक एक अर्वाचीन वैष्णव धर्म-शास्त्र में है, 'जो द्वादशाक्षर-तत्त्वज्ञ (अर्थात् 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्र का तत्त्व-रहस्य जानता है), चतुर्व्यूह-विभाग-वित् और अच्छिद्र-पञ्च-कालज्ञ है, वही भागवत नाम से स्मृत होता है।'

आचार्य वेङ्कटनाथ (१२६८-१३६९ ख्रीष्टाब्द) ने प्रायः इसी प्रकार का एक वचन उद्धृत किया है।[2] उनके द्वारा उद्धृत शाण्डिल्य-वचन है, 'जो चतुर्व्यूह-विभागज्ञ, पञ्च-काल-परायण और द्वादशाक्षर-निष्ठ है, वही भागवतोत्तम है। चतुर्व्यूह व पञ्च-

---

[1] 'वृद्ध-गौतम-संहिता', अध्याय २२ (जीवानन्द का 'धर्म-शास्त्र-संग्रह', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६३६)। मुद्रित पाठ—अच्छिद्रः पञ्च-कालज्ञः सर्वे भागवताः स्मृताः।' परन्तु 'अच्छिद्रः पञ्च-कालज्ञः स वै भागवतः स्मृतः' पाठ ही प्रकृत प्रतीत होता है। कुछ पाठान्तर से यह वचन अन्यत्र भी है। (पृष्ठ ५४५) पृष्ठ ५०४ और ६३७ में भी है—भागवत-गण 'पञ्च-कालमुपासकाः' और 'पञ्च-काल-व्रतः'। वेङ्कटनाथ ने लिखा है—'अन्यार्थ-कर्मान्तरितत्वं सच्छिद्रत्वम् (पाञ्चरात्र-रक्षा, पृष्ठ ५८)। अतः 'अच्छिद्र' का अर्थ है 'अन्यार्थ-कर्मान्तर-रहित'।

[2] 'पाञ्चरात्र-रक्षा', वेङ्कटनाथ-प्रणीत, सेठ श्री मगनीराम वाङ्गूर द्वारा प्रकाशित, सम्वत् १९७६, पृष्ठ ५४।

काल के तत्त्व की व्याख्या बाद में की जायेगी। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि ये पाञ्चरात्र-मत के अनुसार विष्णु या वासुदेव की उपासना से सम्बन्धित हैं।

इससे प्रतीत होता है कि उस समय एकमात्र पाञ्चरात्र-मतानुयायी विष्णु-भक्तों को ही भागवत कहते थे। पाञ्चरात्र-मतानुयायी लोग इस 'भागवत' नाम से भी अभिहित होते थे। 'जयाख्य-संहिता' (बहुत सम्भव है, ५वें ख्रीष्ट-शतक में विरचित) आदि प्राचीनतम पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। परन्तु उसी काल में पाञ्चरात्री को छोड़कर अन्य वैष्णव-गण को भी, तथा अन्य देवताओं के उपासकों को भी 'भागवत' कहा है। उक्त वचन-समूह में यह भी है कि भागवत 'द्वादशाक्षर-निष्ठ' या 'द्वादशाक्षर-तत्वज्ञ' होता है। सभी पाञ्चरात्रानुयायी लोग द्वादशाक्षर-मन्त्र-निष्ठ नहीं होते। यथा, आचार्य रामानुज और उनके अनुयायी पाञ्चरात्रानुयायी हैं; वे चतुर्व्यूह-वादी और पञ्च-काल-वादी हैं, परन्तु 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर-मन्त्र में परायण हैं, द्वादशाक्षर-मन्त्र-परायण नहीं हैं। अतः उक्त व्याख्यानुसार उन्हें भागवत नहीं कह सकते। इसी से वेङ्कटनाथ ने यह मत प्रकट किया कि उक्त व्याख्या में 'द्वादशाक्षर'-शब्द उपलक्षणात्मक है, जो स्व-संहितोक्त मन्त्र-निष्ठ होकर पञ्च-कालिक उपासना करते हैं, वे भी भागवत हैं। (पाञ्चरात्र-रक्षा-पृष्ठ ५४) 'विष्णु-सहिता' (२/३६.२-३८) नामक एक अर्वाचीन पाञ्चरात्र-संहिता में है कि भागवत किसी-किसी के मत से पाञ्चरात्री वैष्णवों का एक उप-विभाग मात्र है। कहना उचित है कि यह भी बोध होता है कि इनके मत से 'भागवत' 'भगवद्-भक्त' से भिन्न है। इन्होंने पाञ्चरात्र-तन्त्रानुयायी वैष्णवों के पाँच विभाग किए हैं। यथा—१भक्त, २ भगवद्-भक्त, ३ दास, ४ पार्षद और ५ भागवत। जो वैष्णव शान्त और वर्ण-रत हैं, परन्तु अदीक्षित हैं, वे हैं भक्त। जो दीक्षित हैं, वे हैं भगवद्-भक्त। दास है नैष्ठिक और पार्षद है तत्-क्रियैकस्थ और तन्निवेदित-वृत्तिवान्। 'परन्तु आतोद्य-वाद्य-समूह सहित नित्य (विष्णु के) पूजक ब्रह्मचारी विप्र-गण भागवत नाम से ज्ञेय हैं। वे सर्वोत्कृष्ट हैं।' (वहीं, २/३६)। 'बृहद्-ब्रह्म-संहिता' (१/७/१८-६) नामक अन्य अर्वाचीन पाञ्चरात्र-तन्त्र में है कि भागवत-धर्म वैष्णव-धर्म से उत्पन्न हुआ है, परन्तु उससे भिन्न है।

वैखानस वैष्णव सम्प्रदाय के शास्त्र में 'भागवत'-संज्ञा का भिन्नार्थ भी पाया जाता है। यथा, महर्षि मरीचि की 'आनन्द-संहिता' (४/६७.२-८ और ४/७३-८) के एक स्थल में कहा है कि भगवान् विष्णु ने वैखानस मत के प्रवर्तक महर्षि विखनस से कहा, 'नारायण-परायण भृग्वादि (ऋषि-गण) तुम्हारी आज्ञा से श्रुति-सम्मत एवं वैष्णव परम धर्म की व्याख्या करेंगे। जो उस धर्म में निरत होंगे, वे ही भागवत नाम से स्मृत होंगे।' अतः इस मत से एकमात्र वैखानस-मतानुयायी वैष्णव-गण ही भागवत हैं। परन्तु उससे कुछ आगे कहा है कि भागवत वैष्णव-गण वैखानस तथा पाञ्चरात्र वैष्णव-गण से

भिन्न हैं; वैखानस-गण वैदिक, पाञ्चरात्र-गण तान्त्रिक और भागवत-गण या भक्त-गण मिश्र-वैष्णव हैं (वहीं, ८/१४)।

महर्षि भृगु के 'यज्ञाधिकार' (५१/१-७) के मत से भी भागवत वैष्णव वैखानस और पाञ्चरात्र वैष्णव से भिन्न हैं। तब उनके मत से भागवत भी तान्त्रिक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैष्णव तन्त्र द्विविध है—वैदिक व तान्त्रिक; फिर तान्त्रिक शुद्ध व मिश्र-भेद से द्विविध है; वैखानस वैदिक, भागवत शुद्ध तान्त्रिक और पाञ्चरात्र मिश्र तान्त्रिक।

महर्षि भृगु के 'प्रकीर्णाधिकार' (क्रिया-पाद, ३०/१३७-१५०) में भागवत के लक्षण-ज्ञापक अनेक श्लोक हैं। इनमें से अधिकांश से ज्ञात होता है कि भागवत भगवान् विष्णु के ही भक्त हैं। वैखानस और पाञ्चरात्र वैष्णव से भिन्न हैं या अभिन्न; इसका उल्लेख मात्र भी नहीं है। इस वर्णन में सर्वत्र अति उदार उच्च भाव दिखाई देता है। यथा, देवता व मनुष्य को, तथा पशु, पक्षी, पिपीलिका (आदि) अन्य (प्राणियों) को, तरु-पाषाण-काष्ठादि (सभी अचेतन पदार्थों) को, भूमि, जल, तेज, वायु व आकाश (—इन पञ्च महा-भूतों) को और दिक्-समूह को, तथा अपने को भी, जो देवेश जनार्दन से व्यतिरिक्त न समझे, वही पुण्यात्मा भागवत नाम से स्मृत होता है' (वहीं, ३०/१४०-१)। 'इस परिदृश्यमान समस्त को ही विष्णु (सर्वमेवेदं विष्णुः) कहकर दर्शन करते हुए जिसका नाड़ी-समूह सुस्निग्ध हो जाता है, उदासीन-वृत्तिक नहीं होता, वही भागवत है' (वहीं, ३०/१४६)। कुछ श्लोकों में भागवत-संज्ञा का वैष्णव-अर्थ में सङ्कोचन नहीं है। यथा, कहा है कि—'जो व्यक्ति ब्राह्मणों को और वेद-समूह को नित्य ही नमस्कार करता है, तथा दूसरों के वित्तादि के प्रति द्रोह नहीं करता, वही भागवत नाम से स्मृत होता है' (वहीं, ३०/१३८)। 'जो कुछ भूत-काल में था और जो कुछ वर्तमान में संस्थित है—वह सभी भगवान् का ही भाग (या अंश) है—जो इसे निश्चित रूप से जानता है, वही भागवत नाम से स्मृत होता है' (वहीं, ३०/१४२)। 'जो व्यक्ति मन, वाणी या कार्य द्वारा किसी भी प्राणी के प्रति पाप-भाव नहीं करता, वही भागवत नाम से स्मृत होता है' (वहीं, ३०/१४४)।

'बृहद्-हारीत-स्मृति' ७/१७६ (स्मृतीनां समुच्चयः, पृष्ठ २७३) में विवृत हुआ है कि जो व्यक्ति तापादि-पञ्च-संस्कार-युक्त, आकार-त्रय-सम्पन्न और हरि का अनन्य-शरण है, वही 'महा-भागवत' नाम से स्मृत होता है। बाद में है कि जो पञ्च-संस्कार-दीक्षित और अर्थ-पञ्चक-तत्त्वज्ञ है, वही 'महा-भागवत' है (वहीं, ८/७०-पृष्ठ २८१)। पञ्च-संस्कार-सम्पन्न, आकार-त्रय-सम्पन्न और नवेज्या-कर्म-कारक व्यक्ति 'महा-भागवतोत्तम' है (वहीं, ६/१४६.२-१५०.१)। अथवा, पञ्च-संस्कार-सम्पन्न, अर्थ-पञ्चक-तत्वज्ञ और नव-भक्ति-समायुक्त ही 'महा-भागवतोत्तम' है (वहीं, ८/२३३)।

अतः 'महा-भागवत' जब नवेज्या-कर्म-कारक या नव-भक्ति-समायुक्त होता है, तब 'महा-भागवतोत्तम' नाम से अभिहित होता है। कहा है कि विष्णु का अनन्य-शेषत्व-

अनन्य-साधनत्व और अनन्य-भोग्यत्व ही 'आकार-त्रय' नाम से उल्लिखित है (वहीं, ११/१४६.२-१५०.१)। प्राप्य ब्रह्म-स्वरूप, प्रापक प्रत्यगात्मा-स्वरूप, प्राप्ति-उपाय, प्राप्ति-फल और प्राप्ति-विरोधी—ये ही पाँच 'अर्थ-पञ्चक' नाम से कहे हैं (वहीं,११/१५२-१५६.१), 'अर्चन, मन्त्र-पठन, ध्यान, होम, वन्दन, मन्त्रार्थ-चिन्तन, योग, वैष्णवों का पूजन और प्रसाद-तीर्थ-सेवा—'नवेज्या-कर्म' नाम से कहे हैं (वहीं, ६/१४८-६.१)। बाद में है, 'अर्चन, मन्त्र-पठन, ध्यान, होम, वन्दन, मन्त्रार्थ-चिन्तन, योग, स्तुति और समाधि—इस प्रकार वैष्णव-सत्तम-गण द्वारा इज्या नव-विध कही गई है (वहीं,११/१५०.२-१५१)।'

नव-विध भक्ति है— (१) शङ्ख-चक्रोर्ध्व - पुण्ड्रादि - धारण, (२) हरि - स्मरण, (३) हरि-नाम-सङ्कीर्तन, (४) हरि-पादाम्बु-निषेवण, (५) हरि-पाद-वन्दन, (६) तन्निवेदित-भोजन, (७) एकादशी-उपवास, (८) हरि का तुलसी-अर्चन और (६) तदीय दिग् का अर्चन (वहीं, ८/८१-३)। जिसमें ये सब गुण नहीं हैं, वह वैष्णव भी नहीं है, विप्र भी नहीं है। अन्यत्र विवृत हुआ है कि 'जो नित्य-नैमित्तिकादि कृत्य (तथा अन्य) सत्कृत्य विष्णु के उपाय-रूप में करता है, वह 'वैष्णव' नाम से उदीरित होता है (८/८१-८४.१, पृ०२८२)।

ख्रीष्टीय १६ वें शतक के शेष भाग में आचार्य अप्पय दीक्षित ने पाञ्चरात्रिक लोगों को 'विष्णु-भागवत' कहा है (वेदान्त - कल्पतरु-परिमल, २/२/४२)। वहाँ 'भागवत' शब्द के साथ 'विष्णु'-शब्द को जुड़ा देखकर प्रतीत होता है कि विष्णु-भिन्न अन्य किसी देवता के उपासक को भी उस समय 'भागवत' कहा होगा। अप्पय दीक्षित हिन्दुस्तान के उस काल के अद्वितीय विद्वान् थे।

'विष्णु-भक्त' को 'वैष्णव' भी कहा है—'वैष्णवो विष्णु-सेवकः।' (पद्म-पु०, पाताल खण्ड, ३०/१४.२) परन्तु प्रकृत पक्ष में, जिस प्रकार 'भागवत'-शब्द का, उसी प्रकार 'वैष्णव'-शब्द का भी व्युत्पत्ति-गत अर्थ और भी व्यापक है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'वैष्णव'-शब्द का अर्थ है 'विष्णु का' या 'विष्णु-सम्बन्धीय'।[1]

अतः जिस प्रकार विष्णु के उपासक को या भक्त को, उसी प्रकार विष्णु के या विष्णु-सम्बन्धीय अन्य किसी भी वस्तु को 'वैष्णव' कहते हैं। इन दोनों अर्थों में 'वैष्णव'-शब्द

---

१. 'पद्म-पुराण' के उत्तर-खण्ड में है—'विष्णोरयं यतो ह्यासीत् तस्माद् वैष्णव उच्यते' (६६/३.१) 'विष्णोरयं यतः प्रोक्तो ह्यतो वै वैष्णवो मतः।' (८३/२.१)

परन्तु अन्य एक स्थल में कहा है कि विष्णु से विष्णु-ध्यान में तत्पर वैष्णव ब्राह्मण का पार्थक्य न करे क्योंकि वह विष्णु ही होता है ('स वै विष्णुर्भवेदिह'—वहीं, ३०/१६)

'विष्णु-रूपो यतो विप्रो वैष्णवः स इह स्मृतः।' (वहीं, ३०/२०.१)

'क्योंकि विप्र विष्णु-रूप है, इसीलिए वह इस संसार में वैष्णव नाम से स्मृत होता है।' शिव ने और भी कहा है कि 'रामोऽहं' (मैं राम हूँ)—यही जप करते हुए विष्णु-प्रसाद-हेतु वे वैष्णव हुए। (३०/२५) और भी देखें—१२७/२३-७।

का व्यवहार पुराणादि में बहुत पाया जाता है। 'विष्णु-भक्त' अर्थ में 'वैष्णव'-शब्द का प्रयोग वेद की संहिता में, ब्राह्मण में और मुख्य-मुख्य उपनिषदों में नहीं है।[1] अष्टोत्तर-शतोपनिषद् में परिगणित एकमात्र 'मुद्गलोपनिषद्' में यह प्रयोग केवल एक बार ही है।[2] वर्तमान 'महाभारत' में भी, जहाँ तक हम जानते हैं, यह प्रयोग एक बार ही है। 'महाभा०', १८।६।८७

यामुनाचार्य द्वारा अनूदित 'महाभारत' के शान्ति-पर्व के एक वचन में वैष्णव के पाञ्चरात्र-विधानानुसार दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख है। वह दाक्षिणात्य संस्करण में मिलता है। उत्तर भारत के संस्करण में वह नहीं है।

वेद में विष्णु प्रधान देवता नहीं हैं। उसमें विष्णु-उपासना की कोई विशेष पद्धति नहीं है।[3] अतः उसमें 'विष्णु-भक्त' या 'वैष्णव'-संज्ञा जो नहीं है, तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु महाभारत के युग में विष्णु एक प्रधान देवता के नाम से परिगणित थे,—उनकी भक्ति विशेष प्रचलित थी।[4] उसमें विष्णु-भक्त की वैष्णव-आख्या न होने से प्रतीत होता है कि यह आख्या प्राचीन नहीं है। किसी-किसी पुराण में 'वैष्णव'-संज्ञा की व्याख्या की गई है। यथा, 'पद्म-पुराण', पाताल खण्ड, ३०।१४-२ में है—'विष्णु-सेवक वैष्णव।' 'एकमात्र विष्णु ही जिसके श्रोतव्य, स्मर्तव्य, कीर्तनीय, पूज्य और आराध्य हैं, वही 'वैष्णव' नाम से समुदाहृत होता है।'...हे मुनि! जो नित्य विष्णु की उपासना करता है, एकमात्र विष्णु ही जिसके ईश्वर, पूज्य और इष्ट हैं, संसार में वही 'वैष्णव' है (पद्म-पु०—शब्द-कल्पद्रुम में उद्धृत)।

'लिङ्ग-पुराण' (२।४।५-७.१) के मत से 'एकमात्र विष्णु ही सर्वत्र जिसके देवता कहकर स्मृत हों, हरि का कीर्तन होने से नित्य जिसे रोमाञ्च, कम्प व स्वेद हो, तथा नेत्र में अश्रु-विन्दु-समूह दिखाई दे, और जो विष्णु-भक्ति-समायुक्त श्रौत-स्मार्त-प्रवर्तक-गण को देखकर प्रसन्न हो, वही 'वैष्णव' नाम से प्रकीर्तित होता है।

---

१. यह बोध होता है, कहना उचित है कि एकमात्र 'शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता' में ही 'वैष्णव' - शब्द का कुछ व्यवहार, भिन्न - भिन्न लिङ्ग व विभक्ति में मिलता है। (यथा, देखें—१/१२, ५/२१,२३,२५; १०/६; २४/१,३६। इनमें से किसी-किसी स्थल में 'विष्णु' का अर्थ 'यज्ञ' है। (यथा, देखें—१।१२)।

२. 'मुद्गलोपनिषद्' में प्रकृत पक्ष में 'अवैष्णव' शब्द है। इसका अर्थ है—'जो वैष्णव या विष्णु देवता का भक्त नहीं है।'

३. 'तैत्तिरीयारण्यक' के अन्तर्गत 'नारायणोपनिषद्' में विष्णु तथा अन्यान्य देवताओं की गायत्री का उल्लेख है। यह अंश 'खिल' नाम से ख्यात है। अतः यह बाद में संयोजित हुआ है।

४. कहा है कि सुपर्ण पक्षि-गण भी परम विष्णु-भक्त थे—'दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम्। हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः॥ (महाभा०,५/१०१।८)

मत्स्य-कूर्मादि विष्णु के अवतारों के उपासकों को भी 'वैष्णव' कहा है। यथा, 'पद्म-पुराण' (उत्तर-खण्ड, ८४।३-६.१) में है, 'जो मत्स्यादि हरि के सभी अवतार-समूह के उपासक हैं और उनके मन्त्र जिनके इष्ट हैं, यदि अनन्य हैं, तो वे वैष्णव हैं, इसमें सन्देह नहीं' इत्यादि। वहाँ दास या विष्णु-दास और भक्त या विष्णु-भक्त के बीच पार्थक्य भी किया गया है। कहा है कि—

'जो वेद-वेदाङ्ग-पारग, नित्य वेद-क्रिया-रत और शङ्ख-चक्राङ्कित है, वह वैष्णव नाम से कहा जाता है। जो शूद्र नित्य द्विज-सेवा-रत, विष्णु-पूजा-प्रपूजक हैं और वेद-सम्मत पुराण बहुधा सुनते हैं, वे शूद्र हरिदास नाम से कहे जाते हैं। जो पाँच वर्ष तक अनेक प्रकार (विष्णु की) भक्ति करते हैं, वह (विष्णु) भक्त नाम से कहा जाता है। यह सर्व साधु-गण द्वारा सम्मत है।' 'जो शूद्र शङ्ख-चक्रान्वित-विष्णु-भक्ति-प्रकारक (अर्थात् नाना प्रकार विष्णु की भक्ति करता है) और विशेष रूप से चतुर्विध महोत्सव करता है, वह विष्णु-दास है। (वहीं, ८४।८-१-६) वहाँ इस विषय में दृष्टान्त भी दिया है। यथा, नारदादि वैष्णव, ध्रुव-प्रह्लादाम्बरीषादि भक्त और शूद्र-गण दास। (वहीं, ८४।२.६)।

'बृहद्-ब्रह्म-संहिता' (१।७।१८) नामक अति अर्वाचीन पाञ्चरात्र ग्रन्थ में है कि समस्त कामनाओं को छोड़कर वैदिक याग-यज्ञादि द्वारा पुरुषोत्तम की अर्चना करना 'वैष्णव धर्म' नाम से कहा है। 'भगवान् का रूप सर्वत्र है, कहकर जाने, तथा वासुदेव सनातन, साक्षात् धारक व प्रेरक, सर्वानन्द-मय, नित्य, नित्य-लीला-निकेतन, सर्वाधि, सर्व-शेषी, सर्व-वेदान्त-सम्मत हैं और अनेक-रूप यह जगत् उनसे भिन्न, अनित्य,—माया-कार्य, मृग-तृष्णा-जैसा व गन्धर्व-नगर-तुल्य' [1] है, यह जानकर; कर्म-समूह में 'यह मेरा है'—इस प्रकार का कर्तृत्व (बुद्धि) एवं फल का त्याग करते हुए वेदोचित कर्म करे। वही वैष्णव नाम से कहा जाता है। जो एकमात्र विष्णु का ही श्रवणादि कर्म करे (वह वैष्णव है)। हे वत्स! यही श्रोतव्यादि श्रुति-कथित वैष्णव धर्म है। (बृहद्-ब्रह्म-संहिता, १/७/२०-२४)।

'जयाख्य-संहिता' (१३/३४२.२-३४३.१) में है कि दीक्षा के अन्त में नए शिष्य के गुरु को, तब पाञ्चरात्रिक वैष्णवों को (वैष्णवान् पाञ्चरात्रिकान्) सरल अन्तःकरण से भोजन व धन द्वारा यथा-शक्ति सन्तुष्ट करना चाहिए (वहीं, २१/९८-१००)। इस स्थान पर वैष्णव के लिए पाञ्चरात्रिक विशेषण का प्रयोग होने से लगता है कि इस प्रकार के वैष्णव भी तब थे, जो पाञ्चरात्रिक नहीं थे। एकाधिक वैष्णवों के सद्भाव का प्रमाण 'जयाख्य-संहिता' की अन्य किसी-किसी उक्ति में मिलता है '(विष्णु) भागवत पुराण' (७/५/२४.१)। उक्त नव-विध भक्ति से यह नव-विध भक्ति कुछ भिन्न है।

---

[1] तस्मादन्यर्थक-रूपं माया-कार्यमिदं जगत्।
अनित्यं मृग-तृष्णाभं गन्धर्व-नगरोपमम्॥' (बृहद्-ब्रह्म-संहिता, १।७।२२)

पहले कहा है कि '(विष्णु) भागवत पुराण के मत से भागवत धर्म के प्रवर्तक भगवान् नारायण ऋषि ही हैं और उन्होंने देवर्षि नारद को उसका उपदेश किया। 'महाभारत' के नारायणीयाख्यान में वर्णित है कि नारायण ने नारद को जो उपदेश किया, वह 'पञ्चरात्र' नाम से अभिहित हुआ।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से भागवत धर्म को 'पाञ्चरात्र धर्म' (महाभारत, १२/३४८/८२; १२/३४९/१,६४,६८) और उसके अनुयायियों को 'पाञ्चरात्र-वित्' (वहीं, १२/३३५/२५; ३४९/७२) कहा गया है।

भगवान् नारायण के भक्तों को वहीं 'एकान्ती' (१२/३३६/३०.१ ४६.२/३३९/२०,३४८/१३६-७) या 'एकान्तिक' (१२/३३९/१३) कहा है। इसी से उनका धर्म 'एकान्त-धर्म' नाम से अभिहित हुआ है। (वहीं, १२/३४८/४६१)। एकान्त-धर्म वहाँ कहीं-कहीं 'सात्वत-धर्म नाम से कहा है (वहीं, १२/३४८/८२ व ८४ देखें)।

इससे भी बोध होता है, यहाँ कहना उचित है कि चतुर्थ कल्प के, ब्रह्मा के श्रवण-जन्य जन्म के, आदि कृत-युग में प्रवर्तित एकान्त धर्म नारायणीयाख्यान में विशेष भाव से सात्वत धर्म के नाम से उल्लिखित है। (वहीं १२/३४८/२९,३४-)

श्वेत-द्वीप-वासी एकान्ति-गण को 'पञ्च-कालज्ञ' (वहीं १२।३३६।४६.२) और 'प्रतिबुद्ध' (वहीं, ३२।३४३।५३) कहा है। सभी एकान्ति-गण ही तब 'प्रतिबुद्ध' नाम से अभिहित होते थे। (वहीं, १२।२४१।३५ एवं ३४८।६७,७४-५)।

अन्यत्र कहीं-कहीं इन्हें संक्षेप में 'बुद्ध' कहा है। देखिये 'स्कन्द-पुराण' (२।९, १६।५.१)—'भक्तमेकान्तिकं विष्णो बुद्ध्वा भागवतास्तु ते।'

इस प्रकार भागवत धर्म और भागवत-गण प्राचीन काल से नाना नामों से अभिहित होते रहे हैं। 'स्कन्द-पुराण' में है—'एकान्तिनो भागवता जित-कामादयस्तु ये' (२।९।९।३४), 'एकान्तिकश्च भक्त-बन्ध-विमोचकाः' (२।९।२२।३७.१)।

'पाद्म-संहिता' (४।२।८६-७) नामक एक पर-वर्ती पाञ्चरात्र ग्रन्थ में है कि पाञ्चरात्र-मतानुयायी-गण सूरि, सुहृद, भागवत, सात्वत, पञ्च-काल-वित्, एकान्तिक, तन्मय, पाञ्चरात्रिक, इत्यादि नामों से कहे गए हैं। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि इस स्थान में 'वैष्णव' संज्ञा का उल्लेख नहीं है। तब 'आदि'-पद से इसका संग्रह

---

[1] 'इदं महोपनिषदं चतुर्वेद-समन्वितं, सांख्य-योग-कृतं येन पञ्च-रात्रानुशब्दितम्।
नारायण-मुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥' (महाभा०, १२।३३९।१११.२-११२)। और भी देखें, वहीं,१२।३४९.६४,६८

'पाञ्च-रात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।' (३४९।६८.१)

'स्कन्द-पुराण' में पुनर्विवृत नारायणीयाख्यान में है कि नारायण ने नारद को 'एकान्त-धर्म' (२।९।२०।१, २६।१), 'एकान्तिक धर्म' (२।९।२०।४; २५।६८; २६।२) या 'वैष्णव-धर्म' (२।९।२३।४१.२) की व्याख्या बताई।

करते हैं। 'वैष्णव'-संज्ञा का उल्लेख नारायणीयाख्यान में तथा भागवत-धर्म के अन्य दो प्राचीन ग्रन्थों में भी नहीं है। जो हो, प्राचीनतम पाञ्चरात्र संहिता-समूह में इस संज्ञा का प्रयोग पाया जाता है। नारद-कृत भगवान् नारायण की स्तुति में है कि वे 'पञ्च-यज्ञ-पञ्च-काल-कर्तृ-पति और पाञ्चरात्रिक' हैं। (देखिए, महाभारत, १२।३३८। ६५.७)।

एकमात्र पाञ्चरात्र-शास्त्र या पाञ्चरात्र-धर्म द्वारा गम्य अथवा इसके सम्यक् वेत्ता, प्रवर्तक और संरक्षक होने से नारायण 'पाञ्चरात्रिक' हैं। श्रेष्ठ भागवत-गण पञ्च-काल में पञ्च-यज्ञ द्वारा भगवान् नारायण की पूजा करते थे। (देखिये, महाभारत, १२।३३७।३०)। इसी प्रसङ्ग से इस पूजा-पद्धति के प्रवर्तक या प्रवर्तक-पति की दृष्टि से उन्हें 'पञ्च-यज्ञ-पञ्च-काल-कर्तृ-पति' कहते हैं।

भागवत-गण और उनके धर्म की इन सभी संज्ञाओं की उपपत्ति का निरूपण करना सहज नहीं है। 'भागवत' और 'वैष्णव' इन दो संज्ञाओं की उपपत्ति पहले दिखा चुके हैं। अब हम और कुछ संज्ञाओं की व्युत्पत्ति की यथा-सम्भव विवेचना करेंगे।

'एकान्त' शब्द का अर्थ है—'एक अन्त'। 'अमर-कोष' के मत से 'एक-तान', 'अनन्य-वृत्ति', 'एकाग्र', 'एकायन', 'एक-सर्ग', 'एकाग्रय' और 'एकायन-गत' शब्द पर्याय-वाचक हैं। और भी देखें—'वैजयन्ती', पृष्ठ २११, २५६-७ पंक्ति। 'एकान्त' शब्द 'निर्जन' एवं 'तीव्र' या 'गाढ़' का भी द्योतक है।

जिसकी चित्त-वृत्ति एक ही विषय में अन्त या समाप्ति-प्राप्त है अर्थात् अभि-निविष्ट या पर्यवसित है, वह एकान्ती है। फलतः नारायणीयाख्यान में 'एकान्ती' को 'एकान्त-भावोपगत', 'एकान्ते समाहित', 'एकान्तित्वोपगत' और 'एकान्त-गत-बुद्धि' कहा है। देखें महाभारत, १२।३३६।२८.२; ५४.२; ३३८।१०८.१, १२८.१, प्रभृति।

यहाँ अवश्य विशेष भाव में भगवद्-विषय को ही लक्ष्य किया है। अन्य विषय में भी एकान्त-भाव होने से 'एकायन-मत' की कथा 'महाभारत' में है (१२।२३७।४)। और भी देखें—'एकायन-गता येऽपि इत्यादि।' (महाभारत, १।२३०।३४; ५।१७०।१२)।

अतः कहा है कि नर व नारायण के मुख से 'भगवदाख्यान' सुनते हुये नारद 'अत्यतं भक्ति-मान् देवे एकान्तित्वमुपेयिवान्' अर्थात् देवता के प्रति अत्यन्त भक्ति-मान् होकर एकान्तित्व को प्राप्त हुए। (महाभारत, १२।३४६।१)।

स्कन्द-पुराण (२।८।२०।४ एवं २।८।२५।६४) में कहा है, 'स्व-धर्म-ज्ञान और वैराग्य के साथ उस लक्ष्मीपतीश्वर (अर्थात् विष्णु) में जो अनन्या भक्ति है, वही एकान्तिक धर्म है। 'गरुड़-पुराण' (१।२२७।१३—१४.१) में है, 'जिस हेतु विष्णु ही एकान्त-रूप में और सम-भाव में उनके परायण हैं, उसी हेतु तद्-भाव-गत-चित्त भक्त-गण 'एकान्त' नाम से कहे गए हैं।

(विष्णु) भागवत-पुराण ।(८।३।२०) में वर्णित है कि 'एकान्ति-गण भगवत-प्रपन्न हैं । भगवान् के अत्यद्भुत और अति मङ्गल-मय चरित्र का गान करते ही वे आनन्द-समुद्र में निमग्न हो जाते हैं, किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करते ।'

'महाभारत' (१२।३४४।१४) में नारायणीयाख्यान में एकान्ती और भागवत को प्रकारान्तर से भिन्न कहा है । कहा है कि मुक्ति के पथ में भागवत-गण तथा सांख्य-गण ने पहले आदित्य में प्रवेश किया । उससे 'परमाणु-भूत' होकर उन्होंने अनिरुद्ध में प्रवेश किया । उससे 'मनोभूत' होकर उन्होंने प्रद्युम्न में प्रवेश किया । तब—किस प्रकार के होकर, इसका उल्लेख नहीं है—उन्होंने सङ्कर्षण या जीव में प्रवेश किया । उससे 'त्रैगुण्य-हीन' होकर उन्होंने वासुदेव या क्षेत्रज्ञ में प्रवेश किया । उससे उन्होंने अनन्त-सुख में वास किया । एकान्ति-गण अनिरुद्धादि तीन स्तरों में न जाकर सीधे वासुदेव में प्रवेश करते हैं । (वहीं, १२।३४८।२–६) ।

इससे ज्ञात होता है कि भागवत व एकान्ती वासुदेव-परायण होते हुए भी कुछ भिन्न हैं—एकान्ती भागवत से श्रेष्ठ हैं । पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में भागवत-धर्मि-गण की एक उप-श्रेणी को भी एकान्ती कहा है । यथा, 'जयाख्य-संहिता' के मत से एकान्ती भागवत-धर्मी तान्त्रिक-गण (भागवत-धर्म-तन्त्रों के) पाँच श्रेणियों में अन्यतम हैं । 'जो पुरुष अपरिग्रहवान्, भ्रमण करता हुआ षट्-कर्म-निरत लोगों से संस्कृत भिक्षा ग्रहण कर उसके द्वारा अष्टाङ्ग-विधि से गोप्ता व अव्यक्त महान् प्रभु की पूजा करता है, गुणी शिष्य सहित एक-विचार-परायण होकर वास करता है और कुल-क्रम का अधिकारी है, वह इस संसार में एकान्ती वैष्णव है ।'

'जयाख्य-संहिता' के मत में भागवत-धर्मियों की पाँच उपश्रेणियाँ ये हैं—१ यति, २ एकान्ती, ३ वैखानस, ४ कर्म-सात्वत और ५ शिखि । पहले सभी 'पञ्च-काल-निषेवी, अप्रतिग्राही, कण-भिक्षाभिवर्ती, बाह्याभ्यन्तर-तुल्य, श्रद्धा-संयम-सेवी और नारायणैक-निष्ठ' थे (२२।३-४) परन्तु काल-वश अनुष्ठित कर्म-समूह के अल्पाधिक भेद के कारण इनके मध्य वैषम्य हो गया । इनके विशेष-विशेष लक्षण-समूह ये हैं—'जो पिता या गुरु-कृत निषेकादि द्वारा संस्कृत, स्वयं विवेक-भावस्थ व ब्रह्मचारि-गुण - युक्त हो, जो निर्मल बुद्धि द्वारा सर्व-भूतों में स्थित विष्णु का दर्शन करे, सर्व-भूतों को उसके अन्तःस्थ कहकर सदा भावना करे, मन, वाणी व कर्म द्वारा एकमात्र अधोक्षज का ही यजन करे, आद्य-द्विजेन्द्र के घर से—उसके अभाव में षट्-कर्म-रत विप्रों से, अयाचित सिद्धान्न द्वारा जीविका-निर्वाह करे, श्मश्रु व मस्तक का मुण्डन करे, काषाय-वस्त्र-धारी दण्ड-मात्र परिग्राही, शुद्ध और सत्वस्थ हो—ऐसे सभी वैष्णव 'यति' नाम से जाने जाते हैं ।' (२२।६-१०) ।

'जो विप्र परिग्रहवान्, ब्राह्मण से याचना करके प्राप्त या क्षत्रिय व वैश्य से अयाचित-भाव में प्राप्त धन द्वारा परमेश्वर की पूजा करे तथा कुटुम्ब का भी पालन

करे, उसे 'वैखानस' नाम से जाने। वह जटी, छत्री व सिताम्बर होता है।' (२२।१३-१५.१) 'मुख्यतः क्रियार्थ और कुटुम्ब-पालन में व अपने भरण में उद्युक्त होकर वृत्ति के लिए जो राजा के पास जाए, वह विप्र 'कर्म-सात्वत' है।' (२।१५.२-१६)।

'जिसके हृदय में प्राधान्यतः वैष्णव-पूजन, फिर पित्र्यादि कर्म अविरत स्फुरित हों और उनके लिए वह कृष्यादि कर्म करे, वह साक्षात् द्विजोत्तम 'शिखि' है।' (२२।१७-१८.१) 'कर्म-सात्वत' का प्रायः 'सात्वत' नाम से उल्लेख किया गया है (२०।२६७ व २१।८१ देखें)। 'जयाख्य-संहिता' में फिर वैष्णवों के अन्य उप-भेद-समूह के लक्षण भी स्पष्ट किए गए हैं। यथा—आप्त, अनाप्त, आरम्भी, सम्प्रवर्ती, योगी, जप-निष्ठ, तापस, शास्त्रज्ञ और शास्त्र-धारक।

'विष्णु-संहिता' (२/३२.२-३३.१) के मत से पाञ्चरात्रानुयायी पञ्च-विध वासुदेवोपासकों में, 'द्विजाति-गण की शुश्रूषा, भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीवन यापन और सकृत (देव-देव की) आराधना जिसका लक्षण है, वह एकान्तिक नाम से कहा है।' इससे ज्ञात होता है कि एकान्ति-गण शूद्र या शूद्र-वृत्ति-परायण हैं। 'विष्णु-संहिता' में पाञ्चरात्र-तन्त्रानुयायियों के त्रिविध पञ्च-विभागों का उल्लेख है। किसी-किसी ने इस प्रकार पाँच विभाग किए हैं—वैखानस, सात्वत, शिखि, एकान्तिक और मूल। वहीं इनमें से प्रत्येक के जो लक्षण वर्णित हैं (२/२८-३५), उनसे ज्ञात होता है कि वृत्ति से सात्वत क्षत्रिय, शिखि वैश्य और एकान्ती शूद्र है। वैखानस 'अयाचितोपपन्न' द्रव्य द्वारा कुटुम्ब-पालन करे और मूल 'अयाचितोपपन्न' या 'स्व-शिष्य से प्राप्त' द्रव्य द्वारा जीवन-यापन करे। ये दोनों ब्राह्मण प्रतीत होते हैं।

'परम-संहिता' (३०/३०.१) में है, 'एकान्ति-गण मोद-युक्त, विष्णु-परायण और परा-श्रद्धा-युक्त होकर वासुदेव की उपासना करते हैं। हे देवल! तुम भी इस वैष्णव ज्ञान को प्राप्त करो। सभी संशय दूर कर एकान्ती वैष्णव बनो। वे 'एकान्तेन परं देवं ···प्रपद्यते' (एकान्त-भाव से पर-देव की···शरण लेते हैं), इसी से 'एकान्ती' नाम से कहे जाते हैं।' (वहीं, ३०/३२.२)

'देवी भागवत' (११/१५/७८.१, ६८) में, वैष्णव आगम देखने से, वैष्णवादि के तीन प्रकार के भेदों का कुछ परिचय दिया है,—एकान्ती, परम एकान्ती या प्रपन्न-एकान्ती और केवल वैष्णव। वहीं इनमें ऊर्ध्व-पुण्ड्र का भेद भी बताया है। जयाख्य-पौष्करादि-पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में,—जो प्राचीनतम और श्रेष्ठतम नाम से आज जाने जाते हैं,—उन सबका उल्लेख नहीं है। 'देवी-भागवत पुराण' के टीकाकार ने कहा है कि—मध्व-सम्प्रदायी वैष्णव-गण ही 'एकान्ती' या 'वीर-वैष्णव' हैं; रामानुज-सम्प्रदायी वैष्णव-गण ही 'परमैकान्ती' या 'महावीर-वैष्णव' और भागवत-गण 'केवल-वैष्णव' हैं। रामानुज ने स्वयं अपने मतानुयायी वैष्णवों को परमैकान्ती कहा है।

'नित्य-ग्रन्थ' नामक एक ग्रन्थ में रामानुज ने साम्प्रदायिक आचार-व्यवहार लिखे हैं। उसके प्रारम्भ में है—'अथ परमैकान्तिनो भगवदाराधन-प्रयोगं वक्ष्ये' इत्यादि ('पाञ्चरात्र-रक्षा', ५७-८ व १४५-६ पृष्ठ देखें)। वेङ्कटनाथ ने 'परमैकान्ती'-संज्ञा की निरुक्ति इस प्रकार दी है—'परमश्चासौ एकान्तश्चेति परमैकान्तः, सोऽस्यास्तीति परमैकान्ती, एकत्र अन्तो निश्चयः प्राप्यतया प्रापकतया च तदुभयं सम्भूय परमैकान्तः, परमश्चासौ एकान्ती च इति वा समासः, तत्राप्यनन्योपायत्वानन्य-प्रयोजनत्वयोः समुच्चयात् परम्यम्, अनन्योपायत्वं चानन्य-देवताकत्व-पर्यन्तम्' इत्यादि ('पाञ्च-रात्र-रक्षा', १४६–७ पृष्ठ)।

उनसे पहले के आचार्य यामुन ने 'महाभारत' (११/३४१/३३.२–३५) में कथित एकान्त-भक्त को या 'गीता' (७/१६-८) के ज्ञानी भक्त को ही परमैकान्ती कहा है ('गीतार्थ-संग्रह' यामुनाचार्य-प्रणीत, श्लोक २९)। उसके द्वारा उन्होंने किसी सम्प्रदाय-विशेष को लक्ष्य नहीं किया है। 'पद्म-पुराण' (उत्तर-खण्ड, २८०/३४) में कहा है कि वैष्णव को अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप श्रुति-स्मृति-विहित सभी कर्म ठीक-ठीक करने होंगे। अन्यथा, उसे नरक में गिरना होगा। वैष्णव की दिनचर्या का विस्तृत विवरण वहाँ दिया है। (देखिये पद्म पु० २८०/३५-६, ४०)

'पद्म-पुराण' (उत्तर खण्ड, २८०/१२६.२, १२७, १२८) में कहा है कि वैष्णव स्वधर्म कहकर ही वर्णाश्रमोचित धर्म-समूह का पालन करे। एकान्ती हरि की आज्ञा-रूप में ही उस सबको करे। 'जो विप्र वासुदेव-परायण और हरि-आज्ञानुरूप ही कर्म-ज्ञानादि आचरण करता है, वह 'एकान्ती' है।' जो सारे कर्म शास्त्र में अकृत्य कहे हैं, वैष्णव व एकान्ती दोनों ही उन सबका परित्याग करें। परमैकान्ती श्रुति-स्मृत्यनुसारी शास्त्र का भी परित्याग करे।

नित्य, नैमित्तिक व काम्य—ये त्रिविध कृत्य-कर्म, इस लोक में मुनियों द्वारा सम्प्रकीर्तित ज्ञान, कृत्याकृत्य-विवेक, परलोक-चिन्तन व उसकी प्राप्ति के साधन और विष्णु के स्वरूप का ज्ञान—इन सभी का परमैकान्ती हेय-बुद्धि से परित्याग करे। वह भक्ति-सहित नव-विध भक्ति और प्रपत्ति करे। नव-विध भक्ति या नव कर्म ये हैं—(१) सुदर्शनोर्ध्व-पुण्ड्रादि चिह्नों का अङ्कन, (२) सद्गुरु-प्रदत्त मन्त्र का जप, (३) यथा-विधि विष्णु का अर्चन, (४) स्मरण, (५) कीर्तन, (६) सेवा, (७) तदग्रे प्रणाम, (८) तद्-भक्तों का पूजन और (९) प्रसाद-तीर्थ का सेवन। (पद्म-पु०, २८०/१३१.२–१३४.१; और भी देखें २४-५)। '(विष्णु) भागवन-पुराणो'क्त नव-विध भक्ति कुछ भिन्न प्रकार की है। (पद्म-पुराण उत्तर-खण्ड; २८०/१२९–१३५)।

'जो विप्र तापादि - पञ्च - संस्कारी, नवेज्या - कर्म-कारक (अर्थात् नव-विध-भक्ति-कारी) और अर्थ-पञ्चक-वित् है, वह महा-भागवत नाम से स्मृत होता है।'

वहीं, २८०/२७, इस वचन में 'विप्र'-शब्द के प्रति विशेष ध्यान देना उचित है क्योंकि कहा है कि क्षत्रिय भी नवेज्या, वैश्य षट्-कर्मेज्या और शूद्र पंचेज्या-कर्म करे (वहीं, २८०/२९-३०)।

वैष्णव प्रपत्ति का सम्यक् त्याग करे और उपाय-भूत वेद (और तदनुयायी शास्त्र) का अवलम्बन करे। महा-भागवतोत्तम या परमैकान्ती उपाय-भाव हेतु शास्त्रोक्त ज्ञान-कर्मादि का सम्यक् त्याग करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। (वहीं, २८०/३३६.२-१३८.१)।

'वृद्ध-हारीत-संहिता' में इन संज्ञा-त्रय की कहीं-कहीं कुछ भिन्न व्याख्या मिलती है। 'वेद-समूह में वर्णित ज्योतिष्टोमादि सभी यज्ञ, पुराणोक्त दानादि पुण्य-व्रत-समूह और नैमित्तिकादि क्रिया-समूह—ये सभी वैष्णवोत्तम-गण द्वारा विष्णु के भोग-रूप में (विष्णु-भोगतया) कर्तव्य हैं। जो नित्य-नैमित्तिकादि कृत्य (समस्त) विष्णु के सत्कृत्य-समूह के उपाय-रूप में करता है, वह 'वैष्णव' नाम से कहा जाता है। जो बुद्धिमान् सत्कृत्य-समूह को विष्णु के आज्ञा-रूप में करता है, वह वैष्णवोत्तम मुनियों द्वारा 'एकान्ती' नाम से कहा जाता है और जो सत्कृत्य-समूह को विष्णु के भोग-रूप में सदा करता है, वह महा-भागवतोत्तम 'परमैकान्ती' है। अकृत्य सभी प्रकार से तीनों ही के लिए वर्जित हैं। ...अकृत्य को शास्त्र-विरुद्ध कहकर और एकान्ती व परमैकान्ती उच्च-भाव के कारण त्याग देते हैं। जो वैष्णव श्रुति-स्मृत्युद्भव कर्म का त्याग करते हैं, वे पाखण्डी नाम से ज्ञेय हैं, वे सारे लोक में गर्हित हैं'—'वृद्ध-हारीत-संहिता', ११/१६२-८ (आनन्दाश्रम का 'स्मृति-समुच्चय', पृष्ठ ३४७)।

अन्यत्र है, 'जो वासुदेव के तुष्टचर्थ ही धर्म का समाचरण करते हैं, वे परमैकान्त योगी हैं। वे हरि के प्रियतम होते हैं।' वहीं, ८/६० (वहीं, २८१ पृष्ठ), और भी देखें—८/२५ व ६३।

'वृहद्धर्म संहिता' (१/७/२८-५०) में इस संज्ञा-त्रय की अन्य और सर्वथा भिन्न व्याख्या है। जो द्विजोत्तम दूसरे देवता को छोड़कर श्री विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं, अकाम या मोक्ष-काम या सकाम, विष्णु में व वैष्णव में ही सदा निबद्ध-हृदय, अन्तः-करण-शुद्धचर्थ, पञ्चरात्रानुसार श्रुति-स्मृत्युदित धर्म वर्णाश्रम-विभाग का सम्यक् आचरण करते हैं, विशुद्धात्मा (होकर) गुह्य कर्म त्याग करते हैं और मलिनीकर, लोक-निन्दा-कर, प्रतिकूल, अनाज्ञप्त व सदाचार-बहिष्कृत कर्म त्याग कर भागवत वेष पहनते हुये भगवान् के विमल जन्म-कर्मोत्सवादि करते हैं, वे ही प्राज्ञ परम वैष्णव कहे जाते हैं।

आत्मा (स्वरूपतः) देहादि-वर्जित, निर्लेप, अक्षर, शुद्ध, परिणाम-हीन, सच्चिदानन्द, षट्-तरङ्ग-मुक्त, अनामय, अवस्था-त्रय-निर्लिप्त, विकार-रहित, ध्रुव, विज्ञान-मय-स्वरूप, अच्युत, अस्फुट, उपाधि-भेद-रहित, शान्त, स्व-प्रभा से व्यापक, उपाधि-कृत-

सङ्कोच से रहित, स्फटिकोज्ज्वल, सर्वेन्द्रिय-गुणाभास, सर्वेन्द्रिय-विवर्जित, अप्रधृष्य, अनौपम्य, अप्रतर्क्य, अगोचर, स्वरूप-भूत-सामर्थ्य-सम्पन्न, सत्य-विक्रम, सत्य-सङ्कल्प, नित्यात्म-गुणाश्रय, अनुत्तम और भगवच्छेष-भूत है—यह जानकर और इसे (जीवात्मा को) वही आत्मा समझकर कृत्य (कर्म) से प्रमुक्त तथा इस प्रकार आत्म-स्थिति पाकर अनात्म-सङ्ग-वर्जित एकान्त में—आत्मा के स्वरूप में संस्थित, बुद्धिमान् एकान्ती है।

सदा देह-धर्म-समूह द्वारा असंस्पृष्ट, मानापमान-वर्जित, स्वात्म-भूत-निजाधार-परमात्मा-परायण, अनात्मा-सबंन्धि-जन-सङ्ग-रति से निवृत्त, प्रतिकूल जन के अन्नादि-भोजन और उनके साथ पंक्ति-भोजन-वर्जित, आचार्योपासना में रत, देहाहंकृति-निर्गत और स्व-स्वरूपस्थ एकान्ती मेरा (भगवान् का) प्रीति-कर कहा जाता है। हे वत्स ! जो स्वाधार-भूत, अच्युत, अक्षर और अद्वैत ब्रह्म-संज्ञित स्वात्मा की प्राप्य-भोग्य-बुद्धि से परा-भक्ति के सहित सदा सेवा करता है, उसे परमैकान्ती नाम से जानो। हे द्विजोत्तम ! प्रत्यगात्मा देह से एकान्त-भूत है। अतः सनातन परमात्मा एकान्त-भूत है।···ब्रह्मादि अमर-गण जिसके आनन्द के कला-लेश के अभिलाषी हैं, उसी आनन्द-निधि की भक्ति परमैकान्तिता कही है। परमैकान्तिक मेरा है और मैं भी उसकी आत्मा कहा जाता हूँ। वह क्षण मात्र के लिये भी मेरे ध्यान-सुख का विच्छेद सहने में अक्षम है। जिसके ज्ञान का लेश मात्र पाकर सभी प्राणी ज्ञानी होते हैं, उसी ज्ञान-निधि की भक्ति परमैकान्तिता है। जिसके कर्तृत्व-सामर्थ्य से जड़-बुद्धि लोग भी कर्ता होते हैं, उसी परम-कर्ता की भक्ति परमैकान्तिता है। जिसके ऐश्वर्य का लेश मात्र पाकर सुरासुर-गण ईश्वर होते हैं, उसी ऐश्वर्य-निधि की भक्ति परमैकान्तिता नाम से ज्ञात है। (बृहद्ब्रह्म-संहिता, १/७/२८-५०)।

इस सबंन्ध में अन्यत्र कहा है कि—'पारमैकान्तिक धर्म' रामानुज द्वारा प्रदर्शित हुआ है (सन्दर्शित)। यह प्राचीन है। कालान्तर में विलुप्त हो गया। विष्वक्-सेनादि भक्तों और शठारि-प्रमुख द्विजों की सहायता से रामानुज मुनि द्वारा यह पुनः संस्थापित हुआ (वहीं, २/७/६७-७१)।

'शाण्डिल्य-संहिता' (भक्ति-खण्ड, ४/१६/२८-३१) के मत से 'वीर-वैष्णव-शासन' गार्षभि शाण्डिल्य द्वारा कहा है। उसके मत से विष्णु का समाश्रय कर अन्य सबका आश्रय छोड़ देना चाहिये। वर्णाश्रमादि, शिखा-सूत्रादि और विधि-निषेधादि सभी का त्याग कर्तव्य है। यह अवैदिक है।

'विष्णु-पुराण' में है कि एकान्ती वानप्रस्थी, संन्यासी और योगी से भिन्न है। उसके मत से वानप्रस्थी सप्तर्षि-लोक में और संन्यासी ब्रह्म-लोक में जाता है और 'स्वात्म-सन्तोष-कारी' योगी 'अमृत-स्थान' प्राप्त करता है (देखिये विष्णु पु०, १/३६/३७-८)। 'परन्तु जो योगी एकान्ती और सदा ब्रह्म-ध्यायी हैं, उनकी गति वह परम स्थान

(अर्थात् विष्णु का परम पद) है, जिसका दर्शन सूरि-गण करते हैं। चन्द्र-सूर्यादि-ग्रह बार-बार जाते हुये लौटते हैं, परन्तु द्वादशाक्षर-चिन्तक लोग आज भी लौटे नहीं (विष्णु-पु० १/३६/३९-४०)।

स्वात्म-सन्तोष-कारी योगियों को प्राप्य 'अमृत स्थान' और एकान्ती व नित्य ब्रह्म-ध्यायी योगियों को लभ्य 'परम-स्थान' का पार्थक्य क्या है, यह 'विष्णु-पुराण' में निर्देशित नहीं है। जो हो, इससे नारायणीयाख्यान का वचन ही प्रतिध्वनित मात्र होता है क्योंकि उसमें भी कहा है कि 'जो समस्त विप्र वेद व उपनिषत्-समूह का विधिपूर्वक पाठ करते हैं और उन्हीं में सम्यक् आस्थित हैं, और जो यति-धर्मी हैं, उनकी भी अपेक्षा एकान्ती मनुष्यों की गति विशिष्ट कही है, ऐसा जानो।' (महाभा०, १२/३४८/५-६.१)।

'वृहद्-ब्रह्म-संहिता' (१/४/१९-२१) में भी उसी प्रकार कहा है कि कर्मी, ज्ञान-योगी और सात्वत की गति भिन्न-भिन्न है—कर्मी की गति त्रिलोक के अन्तर्गत, ज्ञान-योगी या संन्यासी की गति उसके बाहर ब्रह्म-लोक और भगवदर्पित-चित्त व भगवदभिलाषी परमैकान्ती या सात्वत की गति गुणातीत है; परमैकान्ति-गण अर्चिरादि-मार्ग से जाते हैं, कर्मि-गण और योगि-गण उस पथ से नहीं जाते (वहीं, ३/६/५७.९)।

'एकान्त' और 'एकायन'-शब्द अभिन्नार्थक हैं। इसी से 'एकान्त-धर्म' को 'एकायन धर्म' भी कहते हैं। यह संज्ञा वस्तुतः 'महाभारत' में मिलती है। 'महाभारत', १२।२१७।३० व ३८ में कहा है कि भगवान् नारायण ऋषि द्वारा प्रकाशित धर्म को वेदज्ञ लोग 'एकायन धर्म' भी कहते थे क्योंकि मोक्ष अयन (प्राप्ति) का इससे भिन्न कोई पन्था नहीं है, इसीलिये मनीषियों ने इसे 'एकायन' नाम से अभिहित किया है।' देखिये, ईश्वर-संहिता, १।१८;२१।५३४.२–५३५.१ (कुछ पाठान्तर से); 'पारमेश्वर-संहिता',१; 'पुरुषोत्तम संहिता', १/१२।

बाद में प्रदर्शित होगा कि 'ईश्वर संहिता' के मत से पञ्चरात्र धर्म का मूल है एकायन वेद। 'श्रीप्रश्नसंहिता' (२।३९) में कहा है कि 'वेद में मोक्ष-मार्ग हमारे आराधन-रूप में सनातन एक ही जो कहा गया है, (उसी वेद का नाम) इसी से 'एकायन' होगा।' जो हो, इसीलिये वहाँ कथित धर्म को एकायन-धर्म कहा है या नहीं, यह विवेच्य है।

'महाभारत' (५/६९/१५-१६, १७-२१ में) एक 'एकायन पन्था' का उल्लेख है। 'एषः ज्ञान-मार्गः एकायनः एकस्य ब्रह्मणः प्रापकः' (नील-कण्ठ)। परमर्षि व्यास ने कहा है कि मनीषी लोग जिस पथ से जाते हैं, महद्-व्यक्ति उसे जानकर मृत्यु-रूपी संसार में आसक्त नहीं होते, वरन् उसका अतिक्रम करते हैं। यह पन्था अकुतो-भय है और उसके द्वारा हृषीकेश-प्राप्ति-रूप उत्तम सिद्धि-लाभ होता है। इससे सहज ही अनुमान होता है कि यह एकायन पन्था और पूर्वोक्त एकायन धर्म अभिन्न हैं। 'एक-मात्र मार्ग' के अर्थ में भी 'एकायन मार्ग' शब्द का प्रयोग 'महाभारत' (३/१४६/६७)

में मिलता है। बौद्ध-सूत्त-पिटक में भी 'एकायन-मार्ग' का उल्लेख है। 'जीव-गण की विशुद्धि के पक्ष में, शोक-परिवेदन के सम्यक् अतिक्रम करने के पक्ष में और दुःख-दौर्मनस्य के अस्तमित करने के पक्ष में 'एकायन-मार्ग ('मज्झिम-निकाय', 'सतिपट्ठान-सूत्त', १०) की तथा एकायन-मार्ग द्वारा अङ्गार-राशि व वृक्ष-विशेष के सन्निकट जाने की भी कथा है। कोई-कोई सोचते हैं कि इसका अर्थ है 'एकमात्र मार्ग'। इस सम्बन्ध में अध्यापक श्रीवेणीमाधव बड़ूया द्वारा बङ्ग-भाषा में अनूदित 'मध्यम-निकाय' के प्रथम खण्ड के पृष्ठ ५७ की पाद-टीका-सं० ३ द्रष्टव्य है। यह व्याख्या सर्वत्र प्रयुज्य है, ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्राचीन बौद्ध शास्त्र में निर्वाण-लाभ के तीन मार्गों का उल्लेख है। यथा—(१) 'अट्ठाङ्गिक मग्गे' (=अष्टाङ्गिक मार्ग)—यह केवल शील, चित्त और प्रज्ञा-मूलक है, अतः इसमें कायिक व मानसिक संयम का ही प्राधान्य है; (२) 'सतिपट्ठान' और (३) 'सद्धा' (=श्रद्धा) यह प्रीति-जनक प्रसाद है; यह भक्ति-मार्ग है। कहा है कि 'सतिपट्ठान' एकायन-मार्ग है। 'एकायनो अयं मग्गो सत्तानं विसुद्धिया'—यह मार्ग एकायन, प्राणियों के लिये विशुद्धि-कारक है। (देखिये, 'दीर्घ-निकाय' द्वितीय खण्ड, पृ० २६०)।

निर्वाण-लाभ के अन्य दो मार्गों के उल्लेख में 'एकायन-मार्ग' का अर्थ—'एकमात्र मार्ग' नहीं हो पाता। अन्य किसी साहाय्य से रहित केवल 'सतिपट्ठान' द्वारा ही विशुद्धि-लाभ हो सकता है, इसलिये इसे 'एकायन-मार्ग' कहा है या नहीं, यह विवेच्य है। असङ्ग ने लिखा है, 'अनिमित्तैकान्तिक पथ' 'एकायन-पथ' के साथ संश्लिष्ट है—इसकी एक शाखा मात्र है।[1] अतः उनके मत से, यह कुछ भिन्न है।

महा-यान बौद्ध-शास्त्र में 'एकायन-मार्ग' या 'एक-यान' का उल्लेख दिखाई देता है। उसका तात्पर्य यह है—बुद्ध के अनुयायियों में काल-क्रम से मतभेद उपस्थित हुआ, वे नाना दलों में विभक्त हो गये। प्रत्येक दल कहने लगा कि उनका ही अनुसृत मत स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है। तब यह प्रश्न उठा कि क्या बुद्ध ने परम रत्न—मोक्ष या निर्वाण-लाभ के लिये भिन्न-भिन्न मार्गों का उपदेश किया है? इसके समाधान के लिये विद्वानों ने कहा कि नहीं, बुद्ध ने विभिन्न मार्गों का उपदेश नहीं किया है, उन्होंने एक ही मार्ग का उपदेश किया था, अन्य मार्ग-समूह उसी एक मार्ग के ही अन्तर्भुक्त हैं। यथा, 'सद्धर्म-पुण्डरीक' में है 'यान निश्चय ही एक है। इस लोक में दूसरा

---

[1] 'एकायन-पथ-श्लिष्टाऽनिमित्तैकान्तिकः पथः'—'महा-यान-सूत्रालङ्कार', लेभि संस्करण, २०१-/१२.२; 'मिश्रोऽमिश्रत्वेनैकायन-पथस्याष्टमस्य विहारस्य श्लिष्टः अनिमित्तैकान्तिको मार्गः।' (टीका) और भी देखें—वहीं, २०-१/३७.१।

(यान) कभी नहीं है और तीसरा भी निश्चय ही नहीं है।'[1] 'लङ्कावतार-सूत्र' में भी है—यान एक ही है।[2]

यह एक-यान कौन सा है ? यह क्या श्रावक-यान है, विज्ञान-वादी का यान, या शून्य-वादी का यान—इसे लेकर बौद्धों में मत-भेद है। यहाँ उस मत-मतान्तर के उल्लेख का प्रयोजन नहीं है।[3] हमारा अभिप्राय सर्वथा भिन्न है। 'महाभारत' में व्यासोक्त 'एकायन-पन्था' और भागवत-धर्म के 'एकायन-धर्म' नामों के साथ महायान बौद्धशास्त्र के 'एकयान-मार्ग' का कोई सम्बन्ध है या नहीं, इसकी विवेचना विद्वद्-वर्ग करे, यह मैं अनुरोध करता हूँ। असङ्ग के 'महायान-सूत्रालङ्कार' की टीका (—यह स्वयं असङ्ग-कृत है) में 'यान'-शब्द की अनेक निरुक्तियाँ हैं—'यातव्यं यानमिति', 'याता यानमिति', 'याति यानमिति', 'यान्ति तेन यानमिति' और 'यत. परेण यातव्यं नास्ति तद् यानमिति'। 'अयन'-शब्द 'यान'-शब्द का पर्यायवाचक है। अतः एक-यान = एक + यान = एक + अयन = एकायन। अतएव दोनों नाम अभिन्नार्थक हैं। इससे, बोध होता है, असङ्ग ने एकयान-मार्ग को कहीं-कहीं 'एकायन पथ' भी कहा है। बौद्ध एकयान-मार्ग मोक्ष या निर्वाण-लाभ का मार्ग है, यह बुद्ध के ज्ञान (बुद्धस्य-ज्ञानस्य)-लाभ का अर्थात् बुद्ध होने का उपाय है। 'महाभारत' में कथित एकायन-पन्था भी मोक्ष-मार्ग और एकान्ति-गण को 'प्रति-बुद्ध' या 'बुद्ध' नाम से भी अभिहित किया गया है। और भी देखें, एकायन-पन्था 'हृषीकेश-प्राप्ति' या 'नारायण-प्राप्ति' का पन्था है। महायान-बौद्ध-शास्त्र में बुद्ध को कहीं-कहीं नारायण कहा है ;[4] फलत. एकयान-मार्ग को भी नारायण-लाभ

---

[1] 'सद्धर्म-पुण्डरीक', बिब्लिओथेका बुद्धिका' संस्करण, १९१२ ख्रीष्टाब्द, पृष्ठ ४६। और भी देखें—'नास्ति यान-त्रय किञ्चिदेकयानमिहास्ति तु' (पृष्ठ १४३)।

[2] 'लङ्कावतार-सूत्र', बुन्यिउ नञ्जिओ द्वारा सम्पादित, क्योतो, १९२३ ई०, पृष्ठ ६५ व २४३। परन्तु उसमें बुद्ध ने 'परमार्थ का द्वार' शिष्य के अधिकार-भेद से त्रि-यान, एक-यान या अयान बताया है। (२/१३१—पृष्ठ ६५) १०/२४५—पृष्ठ २९७)।

[3] जिज्ञासु पाठक डाक्टर श्री नलिनाक्ष दत्त कृत आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टु हीनयान' ग्रन्थ (लण्डन, १९३० ख्रीष्टाब्द), पृष्ठ ५२-७ देखें। 'लङ्कावतार-सूत्र' का मत है—'तत्रैकयान-गति-लक्षणं कतमद्य-द्वैतैक-यान-मार्गाधिगमावबोध कतमो यदुत ग्राह्य - ग्राहक-विकल्प - यथाभूतावस्था-नाद-प्रवृत्तेर्विकल्पस्यैक-यानावबोधः ततो भवति। एष एक-यानावबोधो महा-मते नान्य-तीर्थ्य-श्रावक-प्रत्येक-बुद्ध-ब्रह्मादिभिः प्राप्त-पूर्वोऽन्यत्र मया। अत एतस्मात् कारणान्महा-मते एकयानमित्युच्यते।' (पृष्ठ २३३-४)

[4] यथा—'ललित-विस्तर' (राजेन्द्रलाल मित्र का संस्करण) में बुद्ध को कहा है—'नारायण-स्थान-वत्।' प्रथम अध्याय, गाथा ६—पृष्ठ १२४, 'नारायण-स्थान-वान्', ७/११, १४ (पृष्ठ १२५, १२६); 'वज्र-दृढ़ अभेद्य नारायणो आत्म-भावो' (अध्याय १५, पृष्ठ २५७)

का मार्ग कहा जाता है। प्राचीन भागवत-धर्म के साथ महायान-बौद्ध धर्म के और भी अनेक विषयों में साम्य है। कौटिल्य के 'अर्थ-शास्त्र' में भी एकायन-मार्ग का उल्लेख है।

पाञ्चरात्र शास्त्र-समूह में भगवान् की आराधना के लिए प्रभात से आरम्भ कर निशा के अन्त तक के काल को पाँच भागों में विभक्त कर कल्पना की गई है कि इस प्रकार प्रति भाग में अलग-अलग प्रकार के कर्म किए जायँ। यथा, देखें—'जयाख्य-संहिता', २२/६६, पौष्कर-संहिता, ३८/२८४।

'जयाख्य-संहिता' में वर्णित है कि ब्राह्म मुहूर्त्त से आरम्भ कर सूर्योदय-पूर्व तक के काल में (देहादि शोधन कर पवित्र होकर) कर्म, वाक् और चित को संयत रखते हुए जप, ध्यान, अर्चन और स्तोत्र द्वारा जगद्-योनि भगवान् का अभिगमन करना चाहिए। इसी से इसे 'अभिगमन-काल' कहा गया है। तदनन्तर उठकर सूर्योदय के बाद एक प्रहर काल में भगवद्-याग-निष्पत्ति के निमित पुष्प-फलादि उपकरण-समूह का अर्जन या उपादान करना चाहिये। इसी से इस काल को 'उपादान-काल' कहा है। तब दो प्रहर अष्टाङ्ग-योग द्वारा परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। यह समय 'इज्या-काल' नाम से स्मृत है। फिर एक प्रहर शास्त्र का अध्ययन, श्रवण, चिन्तन और व्याख्यान करना चाहिये। यह 'अध्याय-काल' (या 'स्वाध्याय-काल') है। दिनावसान सम्प्राप्त होने पर पूजा करनी चाहिये। बाद में शयन कर निशावसान में जागकर योगाभ्यास करना चाहिये। इसी से यह पाँचवाँ काल 'योग-काल' नाम से कहा है—'जयाख्य-संहिता', २२/६८-७४.१।

भगवद्-याग के आठ अङ्ग क्रमशः ये हैं—(१) महाभिगमन, (२) भोग (अर्थात् अर्घ्य-पुष्पादि अखिल-भोग आदि बाह्य उपचारों से पूजन, (३) मधु और घृत-सम्पृक्त दधि से, या पशु-बलि से (पशुनाऽपि वा) पूजा, (४) अनन्तर पूजा (—यह 'मानस पूजा' प्रतीत होती है); (५) सम्प्रदान अर्थात् पूर्वोक्त विधि से निवेदित वस्तु-समूह का दान (६) वह्नि-सन्तर्पण (या होम); (७) पितृ-याग और (८) प्राणाग्नि-हवन नामक अनुयाग। वहीं, 'जयाख्य-संहिता', २२/७६-८०.१।

'पौष्कर संहिता' (३८/२८५-९२, और भी देखें—४१/५७) में भी इस प्रकार काल-विभाग विवृत हुआ है।···सूर्यास्त का पर-वर्ती पूजा-काल और शयन-काल का परिमाण कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है। इससे बोध होता है, कहना उचित है कि 'पौष्कर संहिता' में कहा है कि शयन करते समय हृदय में मन्त्रेश्वर का स्मरण करना चाहिये। जो हो, इस रूप में देखें, चौबीस प्रहरात्मक एक अहोरात्र को प्रकृत पक्ष में सात असमान भागों में विभक्त किया गया है। परन्तु उक्त काल-विभाग-गणना में शयन-काल-विभाग को पृथक् रूप से नहीं रखा है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि यह कर्म-काल नहीं है, विश्राम-काल ही है, शास्त्र का लक्ष्य आराधना-कर्म-काल के प्रति ही था। दिनान्त से

१ 'पौष्कर-संहिता' (३८/२८५ में कहा है—'आदित्य-दर्शन पर्यन्त')

शयन-पर्यन्त काल कर्म-काल होते हुये भी पृथक् रूप से न रखने का कारण यह है कि इस काल में कर्तव्य कर्म पृथक् नहीं है--इस काल में कर्तव्य पूजा इज्या-काल में कर्तव्य पूजा के ही समान या अनुरूप बताई है; अतः यह भी इज्या-काल ही है, कोई पृथक् प्रकार का काल नहीं है। इस अनुमान के सत्य होने से ही पृथक्-कर्म-भेद से काल-विभाग प्रकृत पक्ष में पाँच ही होते हैं। यह अनुमान सत्य ही है, 'जयाख्य संहिता' (२२/६६) के वचन से वह सिद्ध होता है--'प्रभात से निशान्त (काल) पृथक् कर्म-वशतः पाँच ही (विभक्त कहकर) मानने चाहिये। बहु काल (वस्तुतः) नहीं है।'

पाद्मादि अन्य किसी-किसी पाञ्चरात्र-संहिता में इसी प्रकार पञ्च-काल-विधि का स्वल्प-विस्तृत वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं कर्तव्य कर्म के सम्बन्ध में भी भेद दिखाई देता है। यथा, 'पद्म-पुराण' में कहा है कि देवता-स्थान-मार्जन, उपलेप और निर्माल्य-दूरी-करण का नाम अभिगमन; गन्ध-पुष्पादि-चयन उपादान; स्व-देवता की यथार्थ पूजा इज्या; मन्त्रार्थ-सन्धान-पूर्वक जप, सूक्त-स्तोत्रादि-पाठ, हरि का संकीर्तन व तत्वादि-शास्त्राभ्यास स्वाध्याय और स्व-देव की आत्म-भावना योग है। (पद्म-पुराण, पाताल-खण्ड, १८/१०-४) यहाँ बोध होता है, विशेष भाव से कहना उचित है कि इस स्थान में कृष्ण के सम्बन्ध में यह 'पञ्च-प्रकार अर्चा' वर्णित हुई है।

इस पञ्च-काल-तत्व को सम्यक् प्रकार से जानने के कारण ही पाञ्चरात्र-वित् को 'पञ्च-काल-वित्' या 'पञ्च-कालज्ञ' भी कहा जाता है। श्वेत-द्वीप-वासी भगवद्-भक्त-गण पञ्च-कालज्ञ थे। देखिये महाभा०, १२/३३६/४६.२। इस विधि के प्रवर्तक, किंवा इस विधि द्वारा लभ्य, भगवान् को भी कहीं-कहीं यह संज्ञा दी है। वेङ्कटनाथ के 'पाञ्चरात्र-रक्षा', द्वितीय अधिकार (पृष्ठ ५३) का एक वचन है, 'हे पञ्च-कालज्ञ ! हे पञ्च-काल-परायण ! तुम्हें नमस्कार। तुम्हीं पञ्च-कालैक-मानस व्यक्तियों की अव्यय गति हो।' इसी कारण पाञ्चरात्र धर्म को कहीं-कहीं 'पञ्च-काल-धर्म' या 'पाञ्च-कालिक धर्म' भी कहा है। वहीं, वेङ्कटनाथ का 'पाञ्चरात्र-रक्षा', पृष्ठ ५३, ५४, ५७ इत्यादि।

'सूरि' व 'सुहृत्' वस्तुतः पारिभाषिक संज्ञा नहीं हैं। 'अमर-कोश' के मत में 'सूरि'-शब्द का अर्थ है 'विद्वान्' या 'पण्डित'। परन्तु श्रुति में कहा है कि 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' अर्थात् सूरि-गण विष्णु के उस परम पद का सदा दर्शन करते हैं। वैसा होने से ही विष्णु के भक्त 'सूरि'-शब्द को अपने लिए पारिभाषिक संज्ञा-रूप मानते हैं, ऐसा बोध होता है। पाञ्चरात्र-शास्त्र-समूह इसी कारण ज्ञात होता है कि 'परम व्योम' या 'वैकुण्ठ'-वासी 'नित्य' जीव या जीवों या 'सूरि'-गण का सद्भाव माना जाता है। परन्तु 'ऋग्वेद' में विद्वान् स्तोता, यज्ञ-कर्ता या यजमान के अर्थ में 'सूरि'-शब्द के बहुत प्रयोग दिखाई देते हैं। यथा, देखें--ऋक्-सं०, १/३१/७; ४८/४; ५४/११; ७३/५,८ इत्यादि। मेकडोनेल व कीथ कृत 'वैदिक इण्डेक्स', द्वितीय खण्ड का पृष्ठ ४६८ भी देखें।

'अमर-कोष' के मत में 'मित्र', 'सखा' व 'सुहृत्' शब्द एकार्थक हैं। बाद में दिखाया जायगा कि भागवत-गण अहिंसावादी हैं,—उनके मत से भगवान् के प्रिय-भक्त 'सर्व-भूतों के अद्वेष्टा व मैत्र, 'सर्व-भूतों के हित में रत' और 'सर्व-भूतों के सुहृत्' हैं; उनके उपास्य भगवान् भी 'सर्व-भूतों के सुहृत्' हैं और उन्हें जानने से ही शान्ति-लाभ होता है। इसी सबसे भागवत-गण ने 'सुहृत्'-शब्द को अपने लिए 'पारिभाषिक संज्ञा-रूप' में ग्रहण किया है, ऐसा प्रतीत होता है। देखिये, गीता, १२/१३.१, ५/२५/.१२/४, ५/२९.२ और ९/१८.१

यह भी देखें कि विष्णु-सहस्र-नाम में एक नाम 'सुहृत्' है और श्वेत-द्वीप में नारद-कृत नारायण-स्तुति में भी है कि वे बान्धव हैं। देखिये, महाभारत, १३/१४९/६२.१ और १२/३३८/१९७

'पञ्च-रात्र' या 'पाञ्चरात्र' आख्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन काल से पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में तथा अन्यत्र भी, नाना प्रकार की कल्पना-जल्पना होती दिखाई देती है। ऐसा बोध होता है, कहना उचित है कि इनमें से आद्य-रत्न-त्रय के दो—'जयाख्य-संहिता' और 'सात्वत-सहिता' में इस विषय में कुछ भी नहीं है। परन्तु अन्य आद्य-रत्न—'पौष्कर-संहिता' में है।

(१) 'पौष्कर-संहिता' (३८/३०७.२-८) में कहा है, जिस फल के उत्कर्ष द्वारा वेद, वेदान्त, सांख्य, योग और पुराण—ये पाँच प्रकार (शास्त्र को) रात्रि (अर्थात् रात्रि-वत् तमसाच्छन्न मलिन या म्लान) कर देते हैं (रात्र्यायते) कहकर विज्ञेय, हे अब्जज! (वही शास्त्र) 'पञ्च-रात्र' नाम से स्मृत होता है।' 'पाद्म-संहिता' (१/१/७०-१) में भी इसी मत का उल्लेख है। अन्य शास्त्र-समूह, महान् होते हुए भी, उसके सान्निध्य में रात्रि हो जाते हैं (रात्रायन्ते)। इसी से उसकी यह समाख्या (अर्थात् पञ्च-रात्र) लोक में प्रचलित हुई है। अथवा, जिस प्रकार दिवाकर के उदय होने पर (रात्रि पञ्चत्व-लाभ करती है अर्थात् विनाश को प्राप्त होती है), उसी प्रकार उसके उदय होने पर अन्य रात्रि-समूह पञ्चत्व-लाभ करता है। इसी से यह (पञ्च-रात्र नाम) कहा है।

(२) 'परम-संहिता' (१/३९.२-४१.१) में है, 'महा-भूत-गुण-समूह देही लोगों के पञ्च-रात्रि-समूह नाम से कहा गया है। इनका संयोग होने से विनिवृत्ति (कारक) हेतु (यही शास्त्र) 'पञ्च-रात्र' नाम से जाना जाता है। अव्यक्त, बुद्धि (या महत्-तत्व), गर्व (या अहङ्कार), (पञ्च) तन्मात्र एवं (पञ्च) भूत—यह सारा पुरुष के 'रात्रि-समूह' नाम से कहा गया है। इसी से यह 'पञ्च-रात्र' कहा जाता है।'

'कपिञ्जल-संहिता' (१/३१.२-३२) में भी उसी प्रकार कहा है कि 'हे महा-मति! पृथिव्यादि भूत-समूह (या उनके गन्धादि) पञ्च गुण प्राणियों के 'रात्रि-समूह' नाम से कहे गये हैं। सब शास्त्रों से यह निश्चित हुआ है। इनके भोग से विनिवृत्ति करता है, इससे यह शास्त्र 'पाञ्चरात्र' नाम से कहा है।' 'विष्णु संहिता' (१/४९.१) के मत में 'रात्रि'-

शब्द का अर्थ है 'गोचर' (या इन्द्रिय का विषय)। गोचर शब्दादि-रूप या आकाशादि महा-भूत-रूप—सब मिलाकर पाँच हैं। इसी से इन्हें 'पञ्च-रात्र' कहा है। जिससे परम ज्योति को प्राप्त होकर इस पञ्च-रात्र का विनाश होता है, सर्व-ज्ञान-विनाशक वह शास्त्र भी 'पञ्चरात्र' नाम से अभिहित होता है।

'विष्णु-तन्त्र' में भी उसी प्रकार कहा है, 'आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी देहि-गण के 'रात्रि-समूह' नाम से कहे हैं; (क्योंकि, वे रात्रि या) अविद्या से सम्भूत बताए गये हैं। इनके भोग से विनिवृत्त कराने के कारण यह (अर्थात् यह शास्त्र) पाञ्चरात्र नाम से कहा है। यह शास्त्र मेरे द्वारा उसी प्रकार कहा गया है। अव्यक्त, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, तन्मात्रा, महा-भूत और शब्दादि-गन्ध-पर्यन्त उनका गुण-समूह देहि-गण के 'रात्रि-समूह' नाम से कहा है। ये सब समन्वित देह-समूह द्वारा देहि-गण के साधन, पूजन, भुक्ति और मुक्ति-प्रद यह (शास्त्र) पाञ्चरात्र नाम से कहा गया है। देव-भूत-गुण-समूह देहियों की पञ्च-रात्रि नाम से कहा है, क्योंकि (यह शास्त्र) इनके भोग से विनिवृत्त कराता है, (इसीलिए यह पाञ्चरात्र नाम से) कहा है।[1] 'अग्नि-पुराण' (३९-७) में भी है कि आकाशादि पञ्च-भूत ही पञ्च-रात्रि हैं और वे 'अचैतन्य एवं तमोद्रिक्त' हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है—अव्यक्त को और उसके कार्य मदनादि को 'रात्रि' क्यों कहा है? किसी-किसी के मत से यहाँ 'रात्रि' शब्द का अर्थ है 'दान'।[2] यह अनुमान सङ्गत नहीं प्रतीत होता।

'परम-संहिता' (१/७७.२) में कहा है कि प्रकृति सतत पुरुष की नाना-विध निद्रा उत्पन्न करती है—'सा च प्रसूते सततं निद्रामस्य पृथग्-विधाम्'। वह गुण-त्रय द्वारा पुरुष को छः प्रकार निद्रा करती है (क्रियते निद्रां—वही, १/७१)। इस निद्रा के कारण पुरुष अपने स्वरूप को भूल जाता है और बन्धन-ग्रस्त होता है। देखिये, 'परम-संहिता', १/७१, ७८

रात्रि जिस प्रकार पुरुष की निद्रा उत्पन्न करनेवाली है, अव्यक्तादि भी उसी प्रकार निद्रा-जनक हैं। अतः जीव के पक्ष में रात्रि-वत् कहकर उन्हें 'रात्रि' कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। 'पुरुष' शब्द की निरुक्ति से ज्ञात होता है, परमात्मा अव्यक्तादि-विरचित पुर-समूह में शयन करता है। रात्रि में लोक सोते हैं, अथवा रात्रि लोक को सुलाती है। उसी प्रकार शयन-कारक कहकर अव्यक्तादि को पुरुष की 'रात्रि' कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। अग्नि-पुराण के 'तमोद्रिक्त'-शब्द से भी इस संज्ञा की उत्पत्ति पाई जाती है। तमोद्रिक्त कहने से ही आकाशादि पञ्च-महा-भूत तमो-मय हैं। रात्रि भी तमो-मय है। अतः रात्रि-वत् तमो-मय या तमोद्रिक्त कहकर ही आकाशादि को 'रात्रि' कहा है, ऐसा बोध होता है।

---

[1] 'परम-संहिता' की प्रस्तावना में उद्धृत (पृष्ठ ३७) 'विष्णु-तन्त्र' का वचन।

[2] 'परम-संहिता' की डाक्टर श्रीविनयतोष भट्टाचार्य-कृत भूमिका (पृष्ठ ९) एवं डाक्टर श्री एस. कृष्णस्वामी आयेङ्गार-कृत अंग्रेजी-भाषान्तर (पृष्ठ ४) देखें।

(३) 'श्री प्रश्न-संहिता' (२/४०) के मत में 'रात्रि' 'अज्ञान' नाम से कही है और 'पञ्च' का अर्थ है 'अज्ञान-नाशक' (रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पंचेत्यज्ञान-नाशकम्)। अन्वर्थ के अनुरोध से यह शास्त्र 'पाञ्चरात्र' (नाम से) अभिहित है।

(४) 'ईश्वर-संहिता' (२१/५१३-३३) में वर्णित है कि आद्य कृत-युग में शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायम, कौशिक व भरद्वाज—इन्हीं पाँच महर्षियों की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् वासुदेव उनके सम्मुख उपस्थित हुए और 'रहस्याम्नाय नामक दिव्य-मन्त्र-क्रियोपेत एवं मोक्षैक-फल-लक्षणवाले आद्य एकायन-वेद' का अर्थ-सहित उपदेश किया। एक-एक दिवा-रात्रि में एक-एक व्यक्ति को लेकर पाँच दिवा-रात्रि में अलग-अलग उन पाँच व्यक्तियों को वासुदेव ने इस रहस्य-शास्त्र की शिक्षा दी। इसी से यह सब लोगों के द्वारा 'पाञ्चरात्र' नाम से अभिहित हुआ है।

'विहगेन्द्र-संहिता' में भी कुछ रूपान्तर से उसी प्रकार की कथा है।[1] उसके मत में आद्य कृत-युग में भगवान् केशव की कृपा से अनन्त, गरुड़, विष्वक्-सेन, ब्रह्मा और कपाली (या रुद्र)—इन पाँच व्यक्तियों ने क्रमशः पाँच रात्रियों में श्रद्धा-शास्त्र के एक-एक अंश का श्रवण किया। उनमें से प्रत्येक को ज्ञान, योग, क्रिया (या मन्दिर-विग्रहादि-निर्माण) और चर्या-विषय में एक-लक्ष-श्लोकात्मक एक अंश का उपदेश प्राप्त हुआ। इसी से पञ्च-लक्ष-श्लोकात्मक सारा शास्त्र 'पाञ्चरात्र' नाम से कहा गया।

'महा-सनत्कुमार-संहिता' में भी इस प्रकार की एक किंवदन्ती है। उसके पाँच भाग ब्रह्म-रात्र, शिव-रात्र, इन्द्र-रात्र, ऋषि-रात्र और एक अन्य रात्र (पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण इस नाम का निरूपण करना सम्भव नहीं है)—इन पाँच नामों से अभिहित हैं। इस प्रकार एक-एक व्यक्ति को एक-एक रात्रि के क्रम से पाँच व्यक्तियों को अलग-अलग पाँच रात्रियों में सारा शास्त्र बताया गया और प्रत्येक रात्रि को श्रोता के नाम से विशिष्ट कर शास्त्र के उस अंश को भी वह नाम प्रदान किया गया।

'पुरुषोत्तम-संहिता' (१/६-२-७.१) के मत में सारा आगम-शास्त्र ब्रह्मा ने केशव से पाँच रात्रियों में सुना, इसी से वह 'पांचरात्रागम' नाम से स्मृत है। 'परम-पुरुष-संहिता' (१/२४) में भी है कि सम्पूर्ण 'भगवच्छास्त्र-रहस्य' की व्याख्या परम-पुरुष नारायण ने 'पञ्च-रात्रि' में ब्रह्मा से की।

'परम-संहिता' (३१/१६) में है कि ब्रह्मा ने भगवान् परम-पुरुष के आदेश से, श्वेत-द्वीप में जाकर सनकादि सिद्ध-चतुष्टय को उनके पास रहकर प्राप्त सारे तत्व-ज्ञान का पाँच रात्रियों में उपदेश किया। परन्तु यहाँ यह नहीं कहा है कि इसी कारण इस तत्व-ज्ञान-शास्त्र का नाम 'पञ्च-रात्र' है अपितु वहाँ इस नाम की उत्पत्ति अन्य प्रकार से दिखाई है। तथापि यह विशेष द्रष्टव्य है कि पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में से कुछ के मत में

---

[1] स्क्रेडर, इण्ट्रोडक्शन टु दि 'पञ्च-रात्र'।

वहाँ कहे तत्व के आद्य उपदेश के साथ पञ्च-रात्रि का घनिष्ठ सम्बन्ध है—यह आदि से पञ्च-रात्रि में उपदिष्ट हुआ है।

(४) 'ब्रह्म-पुराण' में है, 'रात्र (शब्द) ज्ञान-वाचक है। ज्ञान पञ्च-विध कहा गया है। इसी से मनीषियों ने इसे (अर्थात् पञ्च-ज्ञानात्मक इस शास्त्र को) 'पञ्चरात्र' कहा है।'[1] उपलब्ध 'नारद-पञ्चरात्र' (१/१/४४ और १/१/५६.१) में भी ठीक यही कथा है। दोनों में एक ही वचन होने से प्रतीत होता है कि एक ने दूसरे से ग्रहण किया है, अथवा दोनों ने ही किसी अन्य ग्रन्थ से अनुवाद किया है। इससे लगता है कि 'पञ्च-रात्र' संज्ञा की यह व्याख्या प्राचीन किम्वदन्ती-मूलक है। स्त्रेडार ने भी यही अनुमान किया है।[2] परन्तु इस व्याख्या की बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि 'रात्र'-शब्द किस प्रकार ज्ञान-वाचक है, यह नहीं बताया है।

संस्कृत कोश-ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। संस्कृत-साहित्य में भी उसका यह प्रयोग कहीं दिखाई नहीं देता। जो हो, पञ्च-विध रात्र या ज्ञान क्या-क्या हैं, यह 'नारद-पञ्चरात्र' में वर्णित है। 'नारद-पञ्चरात्र' (१/१/४५-५५) में कहा है कि—प्रथम ज्ञान है परम तत्व। यह जन्म, मृत्यु और जरा-नाशक है। द्वितीय ज्ञान है पर, शुद्ध और मुक्ति-प्रद। इसके द्वारा जीव हरि के पद में लीन होता है। अतः यह मुमुक्षु लोगों का वांच्छित है। तृतीय ज्ञान है शुद्ध व मङ्गल। यह कृष्ण-भक्तिद है,—उद्दास्यद है। इसके द्वारा जीव हरि का दास्य पाता है। अतः यह भक्तों का अभीष्ट है। चतुर्थ ज्ञान है यौगिक। यह पर और सर्व-सिद्धि-प्रद है। यह अणिमादि अष्टैश्वर्य, सार्वज्ञ, दूर-श्रवण, पर-काय-प्रवेश, काय-व्यूह, जीवन-दान, पर-जीवन-हरण, सर्ग-कर्तृत्व और सर्ग-संहार—इन सोलह प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करता है। यह योगियों का सर्वस्व और सिद्धों का सुख-प्रद है। पञ्चम ज्ञान है वैषयिक। इसकी इष्ट-देवी हैं माया। यह परम सम्मोह का हेतु है। इसके द्वारा जीव का चित्त विषय में, सर्वेन्द्रिय की सेवा में और अपने व कुटुम्बियों के पोषण में निरन्तर निबद्ध रहता है। प्रथम व द्वितीय ज्ञान सात्विक, चतुर्थ ज्ञान राजसिक और पञ्चम ज्ञान तामसिक है—जिससे विद्वान् लोग उसकी अभिलाषा नहीं करते। तृतीय ज्ञान निर्गुण है, अतः सबसे श्रेष्ठ है।

'कापिल पञ्च-रात्र' (२/७/५०-२) के मत में पञ्च-ज्ञान ये हैं—(१) आध्यात्मिक ज्ञान, (२) परमात्मा कृष्ण की भक्ति का ज्ञान, (३) मुक्ति-ज्ञान, (४) यौगिक ज्ञान और (५) मायिक ज्ञान। महाभारत (१२/३४८/८१.२-८२.१) के नारायणीयाख्यान में कहा है कि—

एवमेकं सांख्य - योगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते॥

---

[1] साम्ब शिव शास्त्री-सम्पादित 'वैखानसागम' की भूमिका से अनूदित।

[2] स्क्रेडर—इण्ट्रोडक्शन टु दि पञ्चरात्र, पृष्ठ २४

आचार्य रामानुज ने इस वचन का तात्पर्य बताया है कि--सांख्य, योग, वेद और आरण्यक--ये सब परस्पर के अङ्ग हैं अर्थात् एक ही तत्व का प्रतिपादन करने से एकीभूत हैं--एक 'पाञ्चरात्र' नाम से कहे जाते हैं। देखिये, श्रीभाष्य, श्री रामानुज-कृत, २/४२

बाल गङ्गाधर तिलक महाशय ने भी इसी प्रकार बताया है। उन्होंने लिखा है, यह भी कहा है कि 'चार वेद और सांख्य या योग--ये पाँचों ही उसके (भागवत-धर्म के) मध्य में समाविष्ट हैं, इससे उसका नाम पाञ्चरात्र-धर्म[1] हुआ है, और वेदारण्य के सहित (अर्थात् उपनिषत्-समूह को भी लेकर) यह सारा शास्त्र एक दूसरे का अङ्ग है।'[2] तिलक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'पाञ्चरात्र' शब्द की यह निरुक्ति व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है। फिर भी उन्होंने उसे स्वीकार किया है। इसमें सर्व-प्रमुख त्रुटि यह है कि इसमें 'रात्रि'-शब्द का तात्पर्य अव्याख्यात रह गया है। दूसरे इस व्याख्या के ग्रहण करने से यह समझना होगा कि वेद-सांख्यादि-मत-समूह पांचरात्र-मत के अन्तर्गत है--इसका उप-विभाग-समूह मात्र है। परन्तु 'महाभारत' (१२/३४६/६४, ६८-७०) में इस प्रसङ्ग में स्पष्ट ही कहा है कि वेद-सांख्यादि-मत-समूह व पाञ्चरात्र-मत भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि इन सबकी निष्ठा एक नारायण में ही है।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' (११ वाँ अध्याय, १२/२-३, ४६-५३) में भी इसी प्रकार की उक्ति है तथा वहाँ और भी कहा है कि उक्त पञ्च-शास्त्र की उत्पत्ति एक ही मूल-शास्त्र से हुई है। प्रकृत पक्ष में 'महाभारत' के उक्त वचन का तात्पर्य 'पञ्चरात्र'-संज्ञा की उत्पत्ति का निर्देश करने में समर्थ बताया है किन्तु वैसा होना सम्भव है, ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता।

(७) 'शाण्डिल्य-संहिता' (भक्ति-खण्ड, प्रथमांश, ४/७५-८) के मत में सांख्य, योग, शैव, वेद और आरण्यक--ये पाँच आत्मानन्द-समर्पण-कारक कहकर 'रात्रि' नाम से कहे हैं। उक्त पञ्च-रात्रि का अर्थ जिससे सम्यक् प्राप्त हो जाय--जिसके द्वारा परमा-नन्द-लाभ हो, प्रमाण-पञ्चक-पूर्ण और पञ्चकार्थोपदेशक वही प्रपञ्चातीत सद्धर्म--'पञ्चरात्र' नाम से कहा जाता है। सांख्य, योग, वैराग्य, तपस्या और केशव में भक्ति--ये पञ्चार्थ-दान करते हुए जीव का परित्राण करने से यह विद्या पाञ्चरात्रिकी है।

(८) 'शक्ति-सङ्गम-तन्त्र' (प्रथम खण्ड-काली खण्ड, ८/७) नामक एक अर्वाचीन शाक्त तन्त्र में है, निरन्तर पञ्च-रात्रि शैव का मुख दर्शन न करे--जो इस पञ्च-रात्रि-व्रत का पालन करता है, वही वैष्णव-गण पाञ्चरात्र-नाम से कहे जाते हैं। यह तन्त्र सोलहवें खीष्ट-शतक के द्वितीयार्ध में--१५८१ खीष्टाब्द के उप-काल में विरचित है। इससे

---

[1] महाभारत, १२/३३६/१११.२-११२; देखें पूर्व-पृष्ठ।

[2] तिलक का 'गीता-रहस्य', बँगला भावान्तर, पृष्ठ ५६१

बहुत पहले विरचित जयाख्यापौष्करादि प्राचीन पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में इस व्रत का कोई उल्लेख नहीं है। अन्य किसी ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख हमने आज तक देखा नहीं है। यह कहा जा सकता है कि उक्त तन्त्र के मत में पाञ्चरात्र वैष्णव-मत, वैखानस, भागवत, वीर-वैष्णव आदि वैष्णव-मत-समूह से भिन्न हैं (वहीं, ८/३८-४०.१)।

(६) एक स्थल पर है, ब्रह्मा ने रात्रि-काल में अर्थात् प्रलय-काल में पञ्चायुध के समीप भगवान् विष्णु की पाँच प्रकार से पूजा की थी। इसी से यह 'पञ्च-रात्र' नाम से अभिहित है (अत्रि-संहिता, अनुबन्ध क, पृष्ठ ४८०)।

संस्कृत-भाषा में 'रात्रि'-शब्द सामान्यतः 'रजनी'—जो दिन के विपरीत है, अर्थ में ही व्यवहृत होता है। उसका अन्य कोई अर्थ 'अमरकोश' में नहीं है। 'पाञ्चरात्र' नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सारे मत-मतान्तर ऊपर संगृहीत हुए हैं, उनमें से दो (३ व ७) में 'रात्रि'-शब्द इस साधारण अर्थ में ही परिगृहीत हुआ है, अन्य में वाग्-जाल रचकर इसका अस्वाभाविक अर्थ प्रस्तुत किया गया है। 'रात्रि'-शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है, यह कल्पना (४) सबसे अधिक अस्वाभाविक है। पञ्च - महाभूत को या शब्द - स्पर्शादि इन्द्रियों के पञ्च - विषयों को 'पञ्च - रात्रि' मानना (२) भी कष्ट-कल्पना है। 'रात्रि-वत्' अर्थ में 'रात्रि'—शब्द का व्यवहार संस्कृत-भाषा के मत से, असाधारण होने पर भी, हो सकता है। परन्तु उसके साथ-साथ जो यह कल्पना की गई है कि अपर पञ्च-शास्त्र को जो रात्रि-वत् करता है, उसका नाम 'पञ्चरात्र' है (१, ६) वह अस्वाभाविक है। दूसरे के लिए या दूसरों की दृष्टि में उसे 'रात्रि-वत्' कहने से दूसरों ने उसे रात्रि नाम दिया है, ऐसा सोचना ठीक हो सकता है। परन्तु तब यह नाम निन्दा-सूचक या निकृष्टता-ज्ञापक होगा। प्रतीत होता है, इसी कारण से उसके अनुयायियों ने इस उपपत्ति को नहीं दिया है। आधुनिक लेखकों में से भी किसी-किसी ने 'पाञ्चरात्र' नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य प्रकार की कल्पना की है।

'महाभारत' (१२/३३६/४६) के टीकाकार नीलकण्ठ का विचार है कि पञ्च-रात्र = पञ्च-काल; दीक्षा-काल, नित्य, नैमित्तिक व काम्य-पूजा का काल और प्रतिष्ठा-काल—ये ही पञ्च-काल हैं; अथवा पञ्च-यज्ञ के पञ्च-काल।

डाक्टर स्रेडार ने सोचा कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में पाञ्चरात्र-मतानुयायियों की स्वतन्त्र एवं विशिष्ट परिकल्पना होने से उनका यह नामकरण हुआ है। उनके मत में परमेश्वर का स्वरूप पञ्च-प्रकार-विशिष्ट है। यथा, 'विष्वक्-सेन संहिता' में वर्णन है कि भगवान् ने स्वयं कहा है, 'वेदान्त-पारग लोग मेरे (स्वरूप) पञ्च-प्रकार बताते हैं। यथा—पर, व्यूह, विभव, सर्व-देहि-गण का नियन्ता (अर्थात् अन्तर्यामी) और दयालु पुरुषाकृति अर्चावतार। रहस्य-विद् व्यक्तियों ने मुझे इसी प्रकार पञ्चधा बताया है (लोकाचार्य के 'तत्व-त्रय' के बर्बर मुनि-कृत भाष्य में उद्धृत, पृष्ठ १०१-२)।' 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (११/६४) में भी है, 'पञ्चरात्र नामक तन्त्र उनके पर, व्यूह, विभव आदि (पञ्च) स्व-

भाव-निरूपण (कारक) और मोक्षैक-फल लक्षण (युक्त)'। लोकाचार्य के 'तत्व-त्रय' (पृष्ठ १०१–२) में और बर्बर मुनि विरचित उसके भाष्य में इस विषय का प्रकृष्ट विवरण है। स्रेडार ने सोचा कि पुरुष नारायण द्वारा आविष्कृत 'पुरुष-मेध पञ्चरात्र-क्रतु' (शतपथ ब्रा०, माध्य, १३/६/१/१) के साथ परमेश्वर के स्वरूप-सम्बन्ध में पञ्चरात्र-मत की इस परिकल्पना का घनिष्ठ सम्पर्क है—पञ्चरात्र-सत्र की दार्शनिक व्याख्या करने से ईश्वर के स्वरूप पञ्च-व्यूहादि पञ्च-प्रकार नाम से ज्ञात होते हैं। वैसा होने से, उनका कथन है, इस मत के अनुयायि-गण 'पञ्चरात्र' नाम से अभिहित हुये हैं। (स्रेडार, इण्ट्रोडक्शन टु पञ्चरात्र, पृष्ठ २५-२६)।

'शतपथ-ब्राह्मण' में पुरुष नारायण के पञ्चरात्र-क्रतु का जो विवरण मिलता है, उसमें ईश्वर के स्वरूप-सम्बन्ध में कुछ भी नहीं है। किस प्रकार व्याख्या द्वारा उसे पञ्च-व्यूहादि पञ्चधा कहकर स्रेडार ने निरूपण किया है, यह उन्होंने निर्दिष्ट नहीं किया है। पुरुष नारायण के समय में अर्चा या प्रतिमा-पूजा वैदिक समाज में थी नहीं, ऐसा प्रतीत होता है। इसी से उन्होंने अर्चा को परमेश्वर का एक रूप माना था, कह नहीं सकते। अतः पञ्चरात्र-नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्रेडार का यह अनुमान ग्राह्य नहीं है। ये पुरुष नारायण वेद के सुप्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' के द्रष्टा हैं। स्रेडार ने यह माना है। हम भी मानते हैं।

'मुद्गलोपनिषद्' (२-४) और 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (५/२-३९) के मत में, उसके प्रथम चार मन्त्रों में वासुदेवादि चार व्यूहों का वर्णन है। इसे सत्य कहकर स्वीकार करने से मात्र यही ज्ञात होता है कि पुरुष-सूक्त के साथ पञ्चरात्र-मत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके द्रष्टा के पुरुष-मेध का पञ्चरात्र-क्रतु के साथ व पञ्चरात्र-मत का एक समय सम्बन्ध था, ऐसा सोचा जा सकता है, परन्तु पाञ्चरात्र-संहिता-समूह में इस पञ्चरात्र-क्रतु का उल्लेख मिलता नहीं। इससे कहना पड़ता है कि यह सम्बन्ध बहुत पहले टूट चुका था। उसके सत्व में इस सम्बन्ध-मूल से उत्पन्न 'पञ्चरात्र' नाम रह गया, ऐसा मन में ठहरा सकते हैं। इतना मात्र कहने से स्रेडार का अनुमान मन को समीचीन लग सकता है। परन्तु इस पञ्चरात्र-क्रतु से पर-व्यूहादि परिकल्पना का सन्धान-निरूपण करने में उन्होंने भूल की है। अधिक क्या, पाञ्चरात्र-शास्त्र पहले से पञ्च-प्रकार-वादी है या नहीं, इसमें सन्देह है। (आगे देखें)

महा-महोपाध्याय पण्डित गङ्गानाथ झा ने एक अभिनव मत उद्धृत किया है (हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी १९२४, पृष्ठ २१९, राधा-कृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड १, पृष्ठ ७१५)। वह बड़े कौशल से उद्भावित है। महाभारत, पुराणादि में वर्णन है (महा-भा०, १२/३४७-१७, विस्तृत विवरण आगे देखें, विष्णु-भाग० पु०, १/९/३२-७) कि प्रलय के बाद भगवान् हरि योग-निद्रा से अभिभूत होकर भावी सृष्टि की बात सोचते-सोचते प्रलय-जल में सो रहे थे। तब उनकी नाभि से समुद्भूत कमल में ब्रह्मा उत्पन्न हुये।

वे ब्रह्मा या परमेष्ठी 'सत्वस्थ' होकर विश्व की सृष्टि करने को उद्यत हुये। उन्होंने पहले वेद की सृष्टि की। उस समय तम व रजोगुण से मधु व कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुये और उन्होंने वेद को चुरा लिया। इससे अति दुखी होकर ब्रह्मा विष्णु की शरण में आये। विष्णु ने वेद का उद्धार कर ब्रह्मा को लौटा दिया और उक्त दोनों दैत्यों का वध किया।

उक्त मत के अनुसार वेद पाँच दिन-रात दैत्यों के हाथ में रहे और इस बीच मनुष्यों की धर्म-पिपासा को मिटाने के लिए विष्णु ने एक नया मत प्रवर्तित किया, जो बाद में पाञ्चरात्र नाम से अभिहित होने लगा। इस मत को सम्पूर्णतः कपोल-कल्पित मात्र कहना होगा, क्योंकि, अपहृत वेद दैत्यों के पास पाँच रात्रि रहा, इसका उल्लेख महाभारत, पुराणादि में नहीं है। फिर इसे मान भी लें, तो यह घटना विश्व-प्रपञ्च के पहले की है, अतः मनुष्यों की सृष्टि के पूर्व की है। इस कारण तब मनुष्य थे ही नहीं, अतः मनुष्यों की धर्म-पिपासा के मिटाने के लिए नए धर्म-मत के प्रवर्तित होने की कथा सम्भव ही नहीं है।

श्रुति में 'द्वादशाह' नाम से एक सत्र का उल्लेख है। भगवान् बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र' में भी उसका उल्लेख है। द्वादश अह या दिन में वह सम्पन्न होता है, इसी से उसे 'द्वादशाह' कहा है। पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य के प्रथम भाग को 'नवाह्निक' कहते हैं क्योंकि वह नौ(=नव) दिन(=अह्नि) में लिखा गया था। 'शतपथ-ब्राह्मण' में उल्लिखित पुरुष नारायण के पुरुष-मेध-यज्ञ को 'पञ्चरात्र-क्रतु' कहा है क्योंकि वह पाँच दिनों या अहो-रात्र में सम्पन्न होता है। कवि भास (ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक) की एक नाटिका का नाम है 'पञ्चरात्र' क्योंकि पाँच (=पञ्च) अहोरात्र की एक घटना के आधार पर वह रचित है। इन सारे प्राचीन दृष्टान्तों को देखकर प्रतीत होता है कि पाँच दिन या रात्रि या अहोरात्र की एक घटना के साथ अति घनिष्ठ सम्पर्क होने से यह शास्त्र 'पञ्चरात्र-शास्त्र' और उसमें कथित धर्म 'पञ्चरात्र-धर्म' नाम से प्रख्यात हुआ है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पञ्चरात्रि की वह घटना क्या है? 'ईश्वर-विहगेन्द्रादि' कुछ संहिताओं के मत में इस धर्म के मूल-तत्व का उपदेश भगवान् वासुदेव ने पाँच व्यक्तियों, देवताओं या ऋषियों को पाँच रात्रि तक किया, इसी से यह 'पञ्चरात्र' नाम से कहा गया है। पूर्वोक्त दृष्टान्तों की दृष्टि से यह व्याख्या स्वाभाविक लगती है। मूल शास्त्र में एक-एक रात्रि का उपदेश अलग-अलग निबद्ध है, ऐसा बोध होता है और उप-दिष्ट व्यक्ति के नामानुसार उस-उस रात्रि का नाम कहा गया प्रतीत होता है, ऐसा वर्त-मान 'महा-सनत्कुमार-संहिता' में दृष्टि-गत होता है। अतः मूल शास्त्र में सम्भवतः कुल मिलाकर पाँच 'रात्रि' थीं। इसी से उसका नाम 'पञ्च-रात्र' पड़ गया।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार नाम रखने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। यथा–महर्षि पाणिनि-विरचित महा-व्याकरण, अष्ट-अध्याय-सम्पन्न होने से 'अष्टाध्यायी' नाम से कहा जाता है और ठीक उसी कारण से पूर्व-मीमांसा-सूत्र 'द्वादशाध्यायी' या

'द्वादश-लक्षण' नाम से अभिहित होता है । अथवा, यह भी हो सकता है कि आदि में इस धर्म का मुख्य अनुष्ठान सम्पादन करने में पाँच रात्रि का समय लगा हो और इसी से यह 'पञ्च-रात्र धर्म' नाम से प्रसिद्ध हो गया । ठीक इसी कारण प्राचीन काल में पुरुष नारायण द्वारा उद्भावित पुरुष-मेध-यज्ञ पञ्चरात्र-क्रतु नाम से प्रसिद्ध हुआ । 'ताण्डय महा-ब्राह्मण' में त्रिविध पाञ्च-रात्र यज्ञ का विवरण व माहात्म्य दिया है—१ अभ्यासाङ्ग पञ्चरात्र, २ पञ्च-शारदीयाख्य पञ्चरात्र और ३ महा-व्रतान्तर्गत पञ्च-रात्र । उसमें पञ्च-रात्र की भिन्न-भिन्न गणना है। (२१/१३—खण्ड) पञ्च-शारदीयाख्य पञ्च-रात्र की विधि 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (२/७/१०-अनुवाक) में भी मिलती है ।

'शक्ति-संगम-तन्त्र' में इस प्रकार एक पञ्चरात्रि-व्रत के सम्पर्क से ही शास्त्र का नाम 'पञ्च-रात्र' हुआ, ऐसा प्रतिपादित किया है । इन वैष्णवों के शास्त्र में निरन्तर पाँच रात्रि तक शेष-शायी भगवान् वासुदेव के जागरण का उत्सव करने का विधान है (जैसा कि 'बृहत् हारीत स्मृति' में है) । यह पंच-रात्रि 'भीष्म पंच-रात्रि' नाम से अभिहित हैं । इस प्रकार के दृष्टान्त पुराणादि में भी मिलते हैं । यथा—नवरात्र, शिव-रात्रि । दीपावली को बौद्ध जातक में 'पंच-रात्रि' कहा है । सुप्रसिद्ध पार्शी पर्यटक अल्बेरूनी ने इसका उल्लेख किया है और परिचय दिया है । (अल्बेरूनीज इण्डिया, इंग्लिश अनुवाद द्वारा ई० सचाउ, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७७) । अतः यह उत्सव अति विशेषता-युक्त व प्रसिद्ध था । उसके सम्पर्क से 'पंचरात्रि' की ख्याति हुई या नहीं, यह विवेचनीय है ।

'ताण्डय महा-ब्राह्मण' में विवृत है कि '(सृष्टि के पूर्व) एक-मात्र प्रजापति ही थे' (अन्य कुछ भी नहीं था) । यह (अर्थात् यह परिदृश्यमान जगत्) प्रजापति ही थे । उन्होंने कामना की, 'बहुत होऊँ—प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊँ । उन्होंने इस अतिरात्र (गवामयन के आद्य अतिरात्र) का दर्शन किया; इसका आहरण (अर्थात् अनुष्ठान) किया । उसके द्वारा अह और रात्रि का उत्पादन किया ।' (ताण्डय-माहात्म्य, ४/१/४) अर्थात् अहो-रात्र-प्रमुख समस्त जगत् की सृष्टि यज्ञ-रूप साधन द्वारा ही प्रजापति ने की । इस अति-रात्र की प्रशंसा में कहा है कि 'यद्रात्रिः सर्वस्याप्त्यै' ('जो रात्रि है, वह सबकी अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ की प्राप्ति के लिए है) । (वहीं, ४/१/६) सायण कहते हैं कि यहाँ 'रात्रि'-शब्द द्वारा सन्धि, स्तोत्र व शस्त्र—यज्ञ के इन तीन पर्यायों को लक्ष्य किया गया है—'अत्र रात्रि-शब्देन त्रयः पर्यायाः सन्धिः स्तोत्रं तच्छस्त्राणि च लक्ष्यन्ते । रात्रिर्भवतीति यत् तत् सर्वेषां स्तुत-शास्त्राणां परि-गृहीतत्वात् सर्वस्य सम्पूर्णस्य यज्ञस्य प्राप्तेः भवति ।' (सायण)

इस प्रकार देखें, तो प्राचीन काल में यज्ञ के अङ्ग-समूह को 'रात्रि'-शब्द से भी निर्दिष्ट किया है । यदि प्रत्येक अङ्ग को भी 'रात्रि' कहा जाय, तो जिस यज्ञ के मुख्य अंगों की संख्या पाँच है, उसे 'पञ्चरात्र यज्ञ' कहना होगा । प्राचीन भागवत धर्म के मुख्य अंग अभिगमनादि पांच ही हैं । इसी से इसे इस प्रकार पञ्चरात्र-धर्म नाम दिया गया है, ऐसा कहा जाता है ।

ऋग्वेद में 'रात्रि' नाम से एक जन-देवता का उल्लेख है। उसके दस मण्डल के १२७ तम सूक्त में इस देवता की स्तुति है और इसी से वह इसके नाम से 'रात्रि-सूक्त' कहकर प्रख्यात है। उसके द्रष्टा हैं सौभरि ऋषि के पुत्र कुशिक ऋषि, या भरद्वाज ऋषि की कन्या रात्रि ऋषि। उसमें कुल मिलाकर ८ मन्त्र हैं। ४ मन्त्रों में ऋषि ने रात्रि-देवता के स्वरूप का निर्देश किया है—

'रात्रि देवी आयती अक्षि-समूह द्वारा पुरुत्र (अर्थात् सर्वत्र) विशेष रूप से देखती हैं। समस्त श्री - समूह को अधिधारण करती हैं ॥ १ ॥' अर्थात् रात्रि देवी सर्व-दृक् एवं सर्व-श्री-सम्पन्न हैं।

'अमर्त्या रात्रि (देवी) उच्च एवं नीच वस्तु-समूह के (अर्थात् सर्व वस्तु के) ऊरु (=सर्वत्र) को आपूरित करती हैं। ज्योति द्वारा तम को बाधित करती हैं ॥२॥' अर्थात् सर्व-व्यापी और तमो-नाशक हैं।

'आयती देवी (रात्रि) स्वसा उषा को निर्वर्तित करती हैं। (उनके द्वारा) तम निश्चय अपगत होता है ॥ ३ ॥' अर्थात् उनके निकट तम ठहर नहीं सकता—वह तम के दूर पार में है।

'ग्राम्य गण (अर्थात् समस्त मनुष्य-गण), पाद-युक्त-गण (अर्थात् चतुष्पाद पशु-गण), पक्षि-गण और शीघ्र-गामी श्येनादि भी (अर्थात् सर्व-जीव) उनमें शयन करते हैं ॥५॥' सायण कहते हैं कि इसका तात्पर्य यही है कि 'एषा रात्रिः सर्वाणि भूत-जातानि अहानि सञ्चरिण श्रान्तानि स्वयमागत्य सुखयति' अर्थात् रात्रि सर्वाश्रय, सर्व-शान्ति-कर एवं सर्व-सुख-दात्री हैं।

अन्य चार मन्त्रों में ऋषि ने रात्रि देवता की स्तुति और उनसे प्रार्थना की है—

'जिस प्रकार पक्षि-समूह (रात्रि में) वृक्ष पर निवास करता है, उसी प्रकार जिसके प्राप्त होने पर हम (सुख व शान्ति से) निवास करेंगे, वह आज हमारे प्रति (प्रसन्न हो) ॥४॥

'हे रात्रि ! (हम लोगों के हिंसाकारी) वृक व बृकी को हमारे निकट से अलग करो। तस्कर को भी हमसे अलग करो। फिर हमें सुख या उत्तम रूप से तारण-कारी ('सुतरा') होओ ॥६॥

'सर्व-वस्तु से संश्लिष्ट कृष्ण (वर्ण) तम—जो व्यक्त (विशेष रूप से सभी का अञ्जक या प्रत्यक्ष) है, वह हमारे निकट स्थित न रहे। हे उषा ! तुम ऋण-समूह के समान (उस तम को) दूर करो ॥७॥

'हे रात्रि ! हम (स्तुति द्वारा) तुम्हारे गम्भीर न्याय को सब ओर से अपनी ओर करते हैं। दे दिव की दुहिता ! (तुम्हारे प्रसाद से) हम विजय-लाभ करें। तुम हमारी स्तुति को स्वीकार करो ॥८॥

रात्रि-देवता की उपासना 'साम-विधान-ब्राह्मण' में भी है (साम-विधान-ब्रा०, ३/८)। वहाँ वर्णित है कि यह रात्रि-देवता 'पुनर्भू (=बारम्बार भवित्री), मयोभू

(=मय या सुख की भावयित्री), कन्या (=कमनीया), शिखण्डिनी (=सुकेशा), पाश-हस्ता, युवती और कुमारी है।' 'मेरा पुनर्जन्म न हो'—यह कामना जिस व्यक्ति की हो, वह रात्रि-देवता की उपासना करे, 'रात्रि-व्रत' का अनुष्ठान करे। 'रात्रि प्रपद्ये' (मैं रात्रि-देवता की शरण ग्रहण करता हूँ)। फिर वह यह प्रार्थना करे कि (उसके प्रसाद से) उसके इन्द्रिय-समूह के अभिमानी देवता-गण उस-उस इन्द्रिय का समुत्कर्ष करें। अर्थात् वह उनसे ज्ञान-विज्ञान का लाभ कर सके। उससे प्रसन्न होकर रात्रि-देवता इह व परलोक में नाना प्रकार की सिद्धि प्रदान करना चाहेगी परन्तु उन सबका प्रत्याख्यान कर उपासक यही प्रार्थना करे कि 'हे रात्रि! मुझे पवित्र करो। हे रात्रि! यह जो पुष्पान्त एवं पुरातन रव या आकाश (अर्थात् परब्रह्म) है, उसमें मेरा स्थान करो, जिससे मेरा पुनर्भव या पुनर्जन्म न हो।' इस वचन के 'पुष्पान्त' शब्द का प्रकृत तात्पर्य विशेष ध्यान-योग्य है। सायण कहते हैं—

"एतद्-दृश्यमानं जगदेव पुष्पं तस्मिन्नन्तः अवसानं यस्य, तदेतत् पुष्पान्तम्। 'तत्सृष्टा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतेर्जगदाकारेण पर्यवसन्नमित्यर्थः। तस्मात् सर्वात्मक-ब्रह्म-स्वरूपा रात्रिः।"

अर्थात् यह परिदृश्यमान जगत्-प्रपञ्च ही पुष्प है, उसका जो 'अन्त' या अवसान है, वही 'पुष्पान्त' है अर्थात् 'जगदाकारे पर्यवसन्न'। अतः 'पुष्पान्त रव' का अर्थ है सर्वात्मक ब्रह्म—'सर्वात्मक-ब्रह्म-स्वरूपा रात्रि।'

हमारा मत है कि जगद्-रूप पुष्प का जिससे अन्त या विनाश होता है, उसी आकाश या ब्रह्म में अर्थात् सर्व-प्रपञ्चातीत ब्रह्म ही में स्थिति हेतु उपासक प्रार्थना करता है।

वासुदेव भी रात्रि-देवता के समान सर्व-दृक्, सर्व-व्यापी व सर्वाश्रय या 'सर्व-भूताधिवास' हैं। वे भी सर्व-श्री-सम्पन्न या भगवान् हैं। वे सर्व-शान्तिकर, सर्व-सुख-दाता और सबके त्राण-कर्ता हैं। वे स्वयं तम के पर-पार में अवस्थित हैं, अतः सबको अपने में मिलाकर तम के पर-पार ले जाते हैं। इस सारी विवेचना से वासुदेव को भी 'रात्रि' कहा जाता है, रात्रि-देवता के समान वे ज्ञान व तमोनाशक हैं—तम उनके निकट ठहर नहीं सकता। रात्रि-देवता के समान ज्ञान व जीव के तारण-कारी या मुक्ति-दाता हैं। 'ब्रह्म-पुराण' में, 'नारद-पञ्चरात्र' में जो ज्ञान को 'रात्रि' कहा है, वह इस वैदिक दृष्टि से नहीं कहा जाता। तब, जैसा कि हमने पहले कहा है, 'रात्रि'-शब्द का इस प्रकार प्रयोग, जहाँ तक हम जानते हैं, संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।

निघण्टु में 'रात्रि' के २३ नाम हैं (१/७)। उनमें से एक है 'वसु'। 'ज्ञान' नाम वहाँ नहीं है। 'यास्क' ने 'रात्रि'-शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं—'रात्रि कस्मात्। प्ररमयति भूतानि नक्तं चारीणि। उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद् दान-कर्मणः। प्रदीयन्तेह स्यामवश्यायाः' (२/१८)।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' (४/५८,६८.१) में वासुदेव को वस्तुतः रात्रि कहा है परन्तु वहाँ उसका भिन्न कारण दिखाया है। पौराणिक सृष्टि-वाद के मत से प्रलय में सारा विश्व-प्रपञ्च स्रष्टा परमेश्वर में लय हो जाता है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में उन्हें विशेष भाव से 'वासुदेव' नाम से अभिहित किया है। अतः उसमें कहा है कि प्रलय में सारा जगत् क्रमशः वासुदेव में लय होता है।

वहीं (४/६८.२, ७२-१) में कहा है—

'अनिर्देश्यं परं ब्रह्म वासुदेवोऽवतिष्ठते ॥६९
सा रात्रिस्तत् परं ब्रह्म तदव्यक्तमुदाहृतम्।
षण्णां युगानि विज्ञान-बलादीनामशेषतः ॥७०॥
त्रीणि यस्मिन् प्रलीयन्ते यत् तत् सा रात्रिरुच्यते।'

अर्थात् 'हे मुनि! उस समय असत् निश्चय ही था नहीं। उस समय सत् भी नहीं था। भाव व अभाव दोनों को—विचित्र विभव व उदय को अपने में विलोप कर, अनिर्देश्य परब्रह्म वासुदेव ही (तब) थे। वही रात्रि, वही परब्रह्म और वही अव्यक्त नाम से कथित हैं, क्योंकि विज्ञान-बलादि छः (गुण के) तीन से युक्त (अर्थात् सङ्कर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध) उनमें अशेषतः प्रलीन होते हैं, इसी से उन्हें 'रात्रि' कहा है।'

वहीं (८/३८) कहा है—'संहृताखिल-भूत ब्रह्म का जो स्तैमित्य है, वही अव्यय है और वही महा-रात्रि है। वह सङ्कल्प द्वारा धृत होता है।' आगे (८/४०) कहा है—'इस महा-रात्रि पर वासुदेव ही हैं। क्योंकि, बाद में सृष्टि की रात्रि के परे सूर्य को उदय-वशतः दिन के साथ तुलना कर कहा है, वासुदेव 'उषा-चक्र'; सङ्कर्षण 'उदय-चक्र' इत्यादि।'

महा-रात्रि = पर-वासुदेव
↓ ↓
उषा = व्यूह-वासुदेव
↓ ↓
उदय = सङ्कर्षण

शक्ति की स्तिमित अवस्था प्रलय है और उन्मेष अवस्था में सृष्टि। 'माण्डूक्योपनिषद्' में है कि आत्मा की चार अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय या विश्व, तैजस्, प्राज्ञ व तुरीय, और अकार, उकार, मकार व अर्द्ध-मात्रा—ॐकार की इन चार मात्राओं के साथ उनका साम्य किया है—अकार विश्व, उकार तैजस्, मकार प्राज्ञ और अर्द्ध-मात्रा तुरीय। समष्टि दृष्टि से अकार विराट्, उकार हिरण्य-गर्भ, मकार सूत्रात्मा और अर्द्ध-मात्रा तुरीय परमात्मा।

'अहिर्बुध्न्य संहिता' में शक्ति के उन्मेष के साथ और व्यूह-वाद के साथ उनका साम्य दिखाया है। कहा है कि भगवान् की एक ही पूर्ण शक्ति सृष्टि, स्थिति व

प्रलय-कारिणी तीन शक्ति-रूपों में विभक्त हुई हैं। वे अकारादि अक्षर-त्रय या विश्वादि-दशा-त्रय-रूपिणी हैं (५१/२१–२३.१)।' उन्हें यथा-क्रम अनिरुद्ध, प्रद्युम्न व सङ्कर्षणी शक्ति-त्रय कहकर मानना होगा (५१/३१.२–३२.१)। अर्द्ध-मात्रा को 'वासुदेव-मयी शक्ति' नाम से जानो (५१/३२.२–३३.१)।

उक्त शक्ति-चतुष्टय का विलय होने पर भगवच्छक्ति अखण्ड, अनुच्चार्य, निरञ्जनी व स्तिमित रूप में रहती है। वह शक्ति की पञ्चमी दशा है। 'शक्ति-समूह' की सर्व-ग्रासी व दिव्यपञ्चमी दशा सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, वह कुछ भी नहीं (न किञ्चिदिव) कहकर आभात होती है (५१/३५.२—३६.१)। सनातनी परा शक्ति को लक्ष्मी, गौरी, सरस्वती इत्यादि कहते हैं (५१/३७,३/७)। शक्ति की पाँच दशाओं के अनुसार शक्तिमान् की भी अवश्य ही पाँच दशायें हैं। इस शास्त्र में शक्तिमान् विशेष भाव से वासुदेव, नारायण या विष्णु नाम से अभिहित हुआ है। अतः वासुदेव की पाँच दशायें हैं—तुरीयातीत, तुरीय, प्राज्ञ, तैजस् व विश्व।

'तत्त्व-त्रय', पृष्ठ ११०—१ देखें। 'ईश्वर-संहिता' (२०/१९६-९.१) में विवृत है कि 'सात्वत तन्त्र' में पाँच व्यूह व्याख्यात हुये हैं–शान्त-तर, शान्तोदित, सुषुप्ति, स्वप्न और व्यूह। (देखें २१।५७१)।

इन पाँच दशाओं को वासुदेव की यथा-क्रम पर-वासुदेव, व्यूह-वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध की समाख्या प्रदान की गई है। पर व व्यूह के समान सङ्कर्षणादि-त्रय व वासुदेव के रूप या अवस्था-भेद नाम से वस्तुतः वासुदेव ही हैं—'विष्णोः सङ्कर्षणाख्यस्य विज्ञान-बल-शालिनः' (ईश्वर-संहिता, ९/ ३.२)।

अनिरुद्ध को कहीं-कहीं स्पष्टतः नारायण व विष्णु कहा है (देखें, महाभारत, ६/६५/७१, ६७/११)। पुराण के मत से विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर ब्रह्मा उत्पन्न हुए और उन्होंने विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि की। और, सात्वत-शास्त्र के मत से अनिरुद्ध की नाभि से उत्पन्न कमल पर उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने विश्व-सृष्टि की (महाभारत, ६/६५/७०–१, ६७/११-२,१२/३३९/७४, १२/३४७/२२)। अतः सात्वत-शास्त्र के अनिरुद्ध ही पुराण के विष्णु हैं।

वासुदेव 'रात्रि' नाम से भी अभिहित हुए हैं। अतः परादि अनिरुद्ध-पर्यन्त सभी को 'रात्रि' कहा जाता है। ब्रह्मा से ही व्यक्त सृष्टि है। अतः उनके पूर्व के अनिरुद्ध से पर तक सभी अव्यक्त हैं। फलतः, 'नारायणीयाख्यान' में कहा है, अनिरुद्ध को 'प्रधान' भी कहते हैं और वही हैं अव्यक्त व त्रिगुण—'सोऽयमनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते। तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृप-सत्तम॥' (महा-भा०, १२/३४७/१८ और १२/३३९/३९)।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' (२/२६) के पूर्वोक्त वचन में वासुदेव को भी अव्यक्त कहा है।[1] इसमें अन्यत्र भी है कि सर्व-प्रकृति एवं अव्यक्त भी वासुदेव के पर्याय-नाम हैं। व्यक्त-सृष्टि दिन-वत् एवं अव्यक्त रात्रि-वत् है; अतः पर-वासुदेव से अनिरुद्ध तक पाँच अव्यक्त के, अथवा, खूब ठीक कहें तो, अव्यक्त या वासुदेव की पाँच अवस्थाओं को 'पञ्च-रात्रि' कहते हैं। पञ्च-वासुदेव या पञ्च-रात्रि जिस धर्म के परम तत्त्व-विषय में मुख्य सिद्धान्त है, उसे स्वभावतः पञ्चरात्र कहते हैं।

पाद्म-संहिता का मत

'पञ्च-रात्र' आख्या की उत्पत्ति इससे हुई या नहीं, यह प्रायः सत्य प्रतीत होता है कि यह आख्या बाद में हुई है। 'पाद्म-संहिता' (१/१६८.२–६६) में है—

'महोपनिषदाख्यस्य शास्त्रस्यास्य महा-मते !
पञ्च-रात्र-समाख्याऽसौ कथं लोके प्रवर्तते ?'

'हे महा-मति ! महोपनिषत् नामक इस शास्त्र की यह 'पञ्च-रात्रा' समाख्या लोक में किस प्रकार प्रवर्तित हुई ?'

इस प्रश्न के उद्धृत होने से सहज ही प्रतीत होता है कि यह शास्त्र पहले 'महोपनिषद्' नाम से अभिहित हुआ, बाद में 'पञ्च-रात्र' नाम से भी अभिहित होने लगा। 'नारायणीयाख्यान' में यह साक्षात् भाव में कहा है, 'इदं महोपनिषदं···पञ्च-रात्रानुशब्दितम्' (यह महोपनिषत् बाद में पञ्चरात्र नाम से अभिहित हुआ––महा-भारत, १२/३३६/१११.२–११२)।

'पाञ्चरात्र'––आख्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वर-संहितादि में जो कहा है, उससे भी यही सिद्ध होता है। कहा है कि जो 'रहस्याम्नाय' नाम से अभिहित होता है, वही आद्य एकायन वेद ही बाद में 'पञ्च-रात्र' नाम से अभिहित हुआ।

इस प्रसङ्ग में एक बात और कह सकते हैं। तान्त्रिक वैष्णव धर्म के साथ पञ्च संख्या का कोई विशेष सम्पर्क था, ऐसा बोध होता है। क्योंकि, देखें, उस मत में—

(१) ईश्वर का स्वरूप पञ्च प्रकार है : (क) पर-वासुदेव, व्यूह-वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध; शान्ततर, शान्तोदित, सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रद्-व्यूह अथवा, (ख) प्रकारान्तर से पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी व अर्चा।

विष्वक्-सेन-संहिता का मत

'विष्वक्-सेन-संहिता' में है, 'मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्त-पारगाः' (वेदान्त-पारग लोगों ने मेरे प्रकार-समूह पाँच बताए हैं), 'इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्य-विदो जनाः' (रहस्य-विद् व्यक्तियों ने मुझे इस प्रकार (पर-व्यूहादि) पञ्चधा कहा है—'तत्त्व-त्रय', पृष्ठ १०१-२)।

(२) ईश्वर की शक्ति सुदर्शन या लक्ष्मी की पाँच दशायें। कुछ पहले 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' से उसकी व्याख्या दे चुके हैं।

(३) सुदर्शन या लक्ष्मी पाँच प्रकार की क्रिया करती हैं—सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह (या तिरोधान) और अनुग्रह। ये सब 'पञ्च-कृत्य' नाम से ख्यात हैं। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' (१४/१४.२) में कहा है कि सुदर्शन नाम से विष्णु-सङ्कल्प अनन्त-रूप होते हुए भी "पञ्चधा स विजृम्भते"।

(४) कहा है कि तत्व-ज्ञान-लाभ द्वारा उच्चतम जीवन पाने के लिए पाँच पदार्थों का ज्ञान-लाभ संसारी मनुष्यों के लिए अत्यावश्यक है। ये पाँच पदार्थ 'अर्थ-पञ्चक' नाम से ख्यात हैं। वे ये हैं—

(५) (क) स्व-स्वरूप (=आत्म-स्वरूप या जीवात्मा-स्वरूप), (ख) पर-स्वरूप (=ईश्वर-स्वरूप), (ग) पुरुषार्थ-स्वरूप, (घ) उपाय-स्वरूप और (ङ) विरोधी स्वरूप (या प्रति-बन्धक समूह का स्वरूप)। इनमें से प्रत्येक के पुनः पाँच प्रकार के भेद हैं—तत्त्व-ज्ञान-लाभेच्छु के दीक्षा-संस्कार पाँच और उपासना-काल भी पाँच। उसे ही तान्त्रिक वैष्णवों ने 'तापादि' पञ्च-संस्कारी, 'पञ्च-कालज्ञ' या पञ्च-काल-वित् नाम से अभिहित किया है।

(१) अग्नि, (२) गुरु, (३) मन्त्र, (४) शास्त्र और (५) शास्त्राधिकारी—इसी पञ्चक की नियत भक्ति और यथा-वत् परिपालन कर्तव्य है।—ईश्वर-संहिता, २२/६२.२—६३.१।

सात्वत धर्म

'नारायणीयाख्यान' का मत

'सात्वत' नाम की उपपत्ति-सम्बन्ध में भी मतभेद दिखाई देता है। 'महाभारत' (१२/३४८/५५) के नारायणीयाख्यान में भिन्न-भिन्न कल्प में एकान्त-धर्म की आचार्य-परम्परा एवं उत्थान व पतन के कथा-वर्णन के बाद वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा, 'हे राजन्! इसी प्रकार यह महान् धर्म आद्य और सनातन है। (यह दूसरों द्वारा) दुर्विज्ञेय और दुष्कर (होते हुए भी) सात्वत-गण द्वारा सदा धारण हुआ है (सात्वतैर्धार्यते सदा)।' जिस कारण से एकान्त धर्म विशेष भाव में सात्वत-गण द्वारा सदा धारण हुआ है, उसी कारण से वह सात्वत-धर्म नाम से भी अभिहित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

अन्ततः यह अति स्वाभाविक ही है। परन्तु ये सात्वत-गण कौन हैं? इस स्थल में वैशम्पायन ने इस नाम से किन्हें लक्ष्य किया है? भगवान् कृष्ण ने जिस जाति में जन्म ग्रहण किया, वही जाति अनेक पूर्व-पुरुषों के नामानुसार—उनके वंश-नाम से 'सात्वत जाति' है और उसी जाति का प्रत्येक व्यक्ति 'सात्वत' नाम से ख्यात है—

सत्त्वतस्य सुतो राजा भीमो नाम महानभूत्।
येन भैमाः सु-संवृत्ताः सत्त्वतात् सात्वताः स्मृताः॥—'हरि-वंश', २/३८/३८

'सत्त्वत' का अपत्य पुल्लिङ्ग में है 'सात्त्वत'—स्वत्त्वत + अञ = सात्वत; स्त्री-लिङ्ग में ङीप् प्रत्यय से है 'सात्वती'। इनके दृष्टान्त 'महाभारत' में सत्त्वत-वंशीय कृष्ण (१/२२०/१३, २२५/१.१, ५/७०/५.२, १२/३३६/१०४.२ इत्यादि), कृत-वर्मा (१/२२३/३१.१,६/५६/३.२, ८१/२.१ इत्यादि), सात्यकि (५/१६/१, ६/५६/८४.२, ८५.२, १०३/१३.२ इत्यादि), प्रभृति को 'सात्वत' कहा गया है। कृष्ण की बहन सुभद्रा को 'सात्वती' (१/२२६/६८.१,७/३६/२०) और सात्वतात्मजा (१/२२३/१७.१) तथा उनकी मौसी और शिशुपाल की माँ को 'सात्वती' (२/४५/७, १५/११/४६) कहा है। युधिष्ठिर (१२/४३/४.१) और भीष्म (१२/४७/२७) कृत कृष्ण-स्तव में कृष्ण को 'सत्वतां पति' (सात्वत-गण का पति) कहा गया है। उन्हें 'ऋषभं सर्व-सात्वतां' (महा-भा०, ५/६४/५.१, ३१.१, ५/७२.१), 'पुरोगः सर्व-सात्वतां' (वहीं, ५।८६।२.१), 'सात्वतर्षभ' (विष्णु-भाग० पु०, १०।५८।४२-१, ११.२७।१.२) इत्यादि कहा गया है। सात्यकि को भी 'सात्वताग्रय' (महा-भा०,६।२२।४), 'सात्वतां वरः' (वहीं, ७।६८।४२.१) आदि कहा है। 'सात्वत-मुख्य' (७।११८।८.१)।

भोज-गण, वृष्णि-गण और अन्धक-गण को लक्ष्य कर (महा-भा०, १/२२०।१६, २२१।२, २२२।१३, ३३) कृष्ण ने 'सात्वतान्' या 'सात्वत-गण' कहा है (वहीं, १/२२३/३, २।४५।७)। अन्यत्र भी कहीं-कहीं सात्वत-गण, वृष्णि-गण और अन्धक-गण को पृथक् रूप से भी उल्लिखित किया गया है। यथा—'(विष्णु) भागवत पुराण' में है, 'मधु, भोज, दाशार्ह, अर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णि-गण' (१।१४।२५); 'सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्ह-गण' (३।१।२६)।

ग्रियर्सन, भाण्डारकर और बाल गङ्गाधर तिलक के मत

ग्रियर्सन, भाण्डारकर, तिलक आदि आधुनिक काल के किन्हीं-किन्हीं प्रसिद्ध लेखकों ने विचार किया कि इस सात्वत जाति में प्रचलित होने से भागवत या पाञ्चरात्र धर्म 'सात्वत धर्म' नाम से अभिहित हुआ है। (देखें—जी० ए० ग्रियर्सन : 'दि नारायणीय एण्ड दि भागवताज', १६०८ (३७ खण्ड), पृष्ठ २५३; आर० जी० भाण्डारकर : 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स', एडिटेड बाई उत्गोकर, पूना, १६२८, पृष्ठ ११। बाल गङ्गाधर तिलक : 'गीता-रहस्य', बँगला संस्करण, पृष्ठ ५५४। रामप्रसाद चन्दा : 'इण्डो एर्यन रेसेज', पार्ट १, राजशाही, १६१६, पृष्ठ १०१)।

यह अनुमान सत्य कहना होगा कि भागवत या भगवद्-भक्त की सात्वत-संज्ञा जाति-वाचक या सत्वत-वंशीय-वाचक 'सात्वत'—शब्द के सम्पर्क से ही हुई है,—सत्वत-वंशीय सात्वत-गण द्वारा विशेष भाव से परिगृहीत धर्म जब काल-क्रम से सात्वत-धर्म नाम से परिचित हुआ, तब इस धर्म के अनुयायी अन्य सबमें भी साधारण रूप से सात्वत-

नाम से अभिहित होने लगे, परन्तु समस्त प्राचीन लेखकों ने एक-वाक्य में 'सात्वत'-शब्द की भिन्न निरुक्ति दी है।

महा-भारत का मत

महाभारत में है कि सात्वत कृष्ण का एक नाम-विशेष है। उनके सात्वत-वंशीय होने से ही उनका यह नामकरण हुआ है, ऐसा नहीं है क्योंकि उन्होंने स्वयं अर्जुन से उसकी उपपत्ति की व्याख्या अन्य प्रकार से की है। उन्होंने कहा है, 'मैं सत्व से पूर्व में कभी च्युत नहीं हुआ। (सर्व-वस्तु का) सत्व निश्चय ही मेरा ही किया हुआ है, ऐसा जानो। हे धनञ्जय ! मेरा पूर्व सत्व वर्तमान जन्म में भी मुझमें है। उसी सत्व के कारण मैं अकल्मष और निराशी कर्म-संयुक्त हूँ। मैं सत्व-वान् लोगों द्वारा सात्वत-ज्ञान से देखा जाता हूँ। इसी से मैं 'सात्वत' (नाम से अभिहित होता) हूँ।' (महाभारत, १२। ३४२। ११-८)।

सञ्जय ने भी धृतराष्ट्र से प्रायः यही निरुक्ति कही है--क्योंकि कृष्ण सत्व से च्युत नहीं होते और सत्व भी उनका त्याग नहीं करता, इसी कारण वे 'सत्वत' हैं; 'सत्वत' नाम से ही वे 'सात्वत' हैं। (महाभारत, ५।७०।७ सत्व + तप + मतुप् = सत्वत; सत्वत + स्वार्थे अण् = सत्वत एव = सात्वत। महाभारत के अंग्रेजी-भाषान्तर-कार प्रतापचन्द्र राय के मतानुसार ये सभी परवर्ती कल्पनायें मात्र हैं। उनके मत से वस्तुतः ये सात्वत-वंशीय थे, इसी से कृष्ण को 'सात्वत' नाम से अभिहित किया गया। महाभारत (१२।३४२।७७) की टीका में नीलकण्ठ ने कहा है कि 'सत्वेन तायते पालयते वा सत्वं तनोति निस्तारयति वा सत्वतः; सत्वमस्त्यस्मिन्निति सत्वतः; सत्व-पूर्वकमेव सर्वं कर्माचरतीति सत्वतः। सत्वतः एवं सात्वतः। तातृ-सन्तान-पालनयोस्तनु-विस्तारे आभ्यां सत्व-शब्द-पूर्वाभ्यां भः तर्पर मरुद्भ्यामित्यत्र श्रुतो मत्वर्थीयस्तप् श्रत्ययो नाहुलकात् सत्व-शब्दादपि अन्ते तद्धितान्तानुकरणमेव प्रातिपदिकं सद् ब्रह्म तद्भक्तः सत्वन्तः आर्षं भत्वं। तेषामिदं तन्त्रं सात्वतं पाञ्चरात्रादि' इत्यादि)।

ऐसा होने से यह कहा जाता है कि जब कृष्ण इस प्रकार 'सात्वत' नाम से ख्यात हैं, तब उनके द्वारा प्रचारित धर्म और उसके अनुयायी भी 'सात्वत' नाम से अभिहित होने लगे। भारतवर्षीय धर्म के इतिहास में इस प्रकार के दृष्टान्त और भी हैं। शाक्य-वंशीय सिद्धार्थ या गौतम तत्त्व-ज्ञान लाभ कर जब 'बुद्ध' नाम से ख्यात हुए, तब उनके द्वारा प्रचारित धर्म और उसके अनुयायी 'बौद्ध' नाम से अभिहित होने लगे। ज्ञातृ-वंशीय महावीर तपस्या व ज्ञान द्वारा इन्द्रिय जय कर जब 'जिन' नाम से ख्यात हुए, तब उनके द्वारा प्रचारित धर्म और उसके अनुयायी 'जैन' नाम से कहे गए।

वैशम्पायन का मत

वैशम्पायन के पूर्वोद्धृत वचन में है कि एकान्त धर्म दूसरों के लिए दुर्विज्ञेय और दुष्कर होने पर भी सात्वत--गण द्वारा निरन्तर ग्रहण किया गया। इस वचन के पहले

और बाद में उन्होंने कहा है कि एकान्त-धर्म 'दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः' अर्थात् अकृतात्म-व्यक्तियों के लिए ही दुर्विज्ञेय है। (महाभारत, १२।३४८।६.२ व ६१.२)। इससे प्रतीत होता है कि जो कृतात्मा हैं, उन्हें ही उन्होंने सात्वत कहा है। अन्ततः यह भी मन में आता है कि इस वचन में उन्होंने 'सात्वत' शब्द जाति-वाचक अर्थ में नहीं प्रयोग किया है।

विष्णु-तत्त्व की व्याख्या करते समय भीष्म ने सृष्टि के प्राक्-काल में मधु व कैटभ नामक दैत्य के हनन करनेवाले भगवान् विष्णु को 'ऋषभं सर्व-सात्वतां' कहा है। (वहीं, १२।२०७।१६.२)। यहाँ 'सात्वत' शब्द का अर्थ अवश्य ही है—'सत्व-गुण-युक्त'। अन्यत्र भीष्म ने कहा है कि जो 'विनिद्र, जित-श्वास व संयतेन्द्रिय' हैं अर्थात् जिन्होंने तम व रज-गुण को जय कर लिया है, वे ही हैं 'सत्वस्थ'। (वहीं, १२।२८४।१६६,१३।१४६।६७)। 'सत्वस्थ' या सत्व-वान् कहकर ही उन्हें 'सात्वत' कहा जाता है। सत्व-प्रधान विष्णु अवश्य ही सर्व-श्रेष्ठ सत्वस्थ या सात्वत हैं, अतः 'सर्व-सात्वत-गण के ऋषभ' हैं। विष्णु के सहस्रनाम में अन्यतम है —'सात्वतां पतिः'। इसकी उपपत्ति भी इसी प्रकार है (शब्द-कल्पद्रुम)।

'पद्म-पुराण' का मत

'पद्म-पुराण' में है, 'जो अनन्य-मन से सत्व, सत्वाश्रय और सत्व-गुण केशव की सेवा करता है, वह 'सात्वत' नाम से समुदाहृत होता है।...जो सत्व-गुणोपेत होकर काम्य-कर्मादि का परित्याग कर सत्य-स्वरूप एकाकी हरि का ही भक्ति-सहित भजन करता है, उसे (विद्वान्-गण) 'सात्वत' नाम से जानते हैं। जो हरि के भक्त,—दिन-रात उनके नाम के कीर्तन व स्मरण में रत हैं, उनके वन्दन, अर्चन, दास्य व सख्य में जिनकी भक्ति है और अनन्त में आत्मार्पण करने में जिनकी दृढ़ रति है, वे ही हैं 'सात्वत'।' (शब्द-कल्पद्रुम)।

'जयाख्य-संहिता' का मत

'जयाख्य-संहिता' (२२/२८/—२९.१) के मत में 'जो पञ्च-कालिक कर्म द्वारा यथा-क्रम देवता (विष्णु) की पूजा करते हैं और उसमें द्विजाति को, अथवा चारों (वर्णों) को अधिकार प्रदान करते हैं, वे ही शुद्ध भगवन्मार्ग में सत्वस्थ हैं और वे ही हैं 'सात्वत'। ('जयाख्य-संहिता' में 'कर्म-सात्वत' नाम से भागवत-धर्मियों की एक उप-श्रेणी का उल्लेख है। उसका उल्लेख प्रायः सात्वत नाम से ही किया गया है।) इन सब वचनों में 'सात्वत' संज्ञा की उपपत्ति 'सत्व'-शब्द के सम्पर्क में ही हुई है।

'सात्वत'-संज्ञा की इन दो उपपत्तियों में कौन सी प्राचीन व मौलिक है और कौन सी बाद में कल्पित है, यह कहना कठिन है। आपात दृष्टि से प्रतीत होता है कि पहली व्याख्या ही मौलिक है अर्थात् सत्वत-वंशीय होने से कृष्ण 'सात्वत' हैं और इस वंश के श्रेष्ठतम व्यक्ति होने से वे 'सात्वत-गण के पति' व 'सात्वत-गण के ऋषभ' नाम से

अभिहित हुए हैं। बाद में विष्णु से उनकी अभिन्नता प्रचारित होने पर लोक में कोई-कोई विष्णु को भी उनके नामों 'सात्वत-गण के पति' व 'सात्वत-गण के ऋषभ' से कहने लगे, परन्तु इस अनुमान को ही एकमात्र तथ्य कहकर ग्रहण करना होगा, इसके लिए कोई निश्चित हेतु नहीं है। प्रकृत तथ्य उसके विपरीत भी हो सकता है। (अध्यापक एस० कृष्णस्वामी आयेङ्गार ने भी ऐसा ही अनुमान किया है। उन्होंने कहा है, 'इट इज क्वायट पासिबल दैट दीज नेम्स बोथ आफ दि इण्डिविजुअल एण्ड दि ट्राइब आर डिराइव्ड फ्राम प्रीवियसली नोन नेम्स व्हाटेवर देयर ओरिजिन' (प्रोस, सेकेण्ड ओरियण्ट कान्फरेंस, कलकत्ता, १९८८, पृष्ठ ३५२)।

नारायणीयाख्यान में विवृत एकान्त-धर्म के मत से सात्विक पुरुष ही सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, यहाँ तक कि वही मोक्ष-लाभार्थ निश्चित हुआ है (महाभारत, १२।३४८।६९ व ७३.२ श्लोकार्ध)। उसके मत में मोक्ष नारायण-पर या नारायणात्मक है (वहीं, १२।३४८। ७०,७४)—मोक्ष में जीव नारायण में प्रवेश करता है (वहीं, १२।३३९।२५, ४३.१)। 'नारायण सत्वस्थ, सत्व-वान् और सात्विक' हैं (वहीं, १३।१४९।६५,१०६—विष्णु-सहस्र-नाम का नामान्तर)।

अतः जो पुरुष सात्विक है, एकमात्र वही नारायण में प्रवेश कर पाता है या मुक्त हो पाता है— एकान्त-धर्म का यह सिद्धान्त समीचीन ही है। भीष्म ने भी 'महाभारत' (१२।३०१।७७.१) में अन्यत्र कहा है कि सत्व ही जीव को शुद्धात्मक परम प्रभु नारायण के निकट वहन कर ले जाता है। पुराणादि में भी उसी प्रकार की उक्ति पाई जाती है—'सत्व द्वारा ही जीव मुक्त होता है—सत्व नारायणात्मक है।' (पद्म-पुराण, पाताल-खण्ड, ९३।१२.१, वराह-पुराण, ७०।१९.२, २३.१, कूर्म-पुराण १।२२।३३.२)।

'सत्वमेव सात्वं, तत् तनोति। तन्+उ। इति सात्वत'—इस निरुक्ति के अनुसार जो सत्व की वृद्धि करे, उसे 'सात्वत' कहते हैं। एकान्त-धर्म पुरुष के सत्व-गुण की वृद्धि करता है। यथा, श्वेत-द्वीप-वासी महा-भाग्य-शाली सिद्ध-गण के सम्बन्ध में भगवान् नारायण ने नारद से कहा कि वे पहले एकान्ती थे, जिससे वे तम व रज गुण से निर्मुक्त हो गए। निश्चय ही उसी कारण से उन्हें वहाँ प्रवेश कराया (महाभारत, १२।३३९। २०, ४९)।

भीष्म ने कहा है कि जब मनुष्य की अन्तरस्थ सभी कामनाएँ सब प्रकार से निवृत्त होती हैं, तब वह सत्वस्थ होता है और तब वह ब्रह्म-लाभ करता है (महा-भा०, १५/६६/३८)—

'यदा निवृत्तः सर्वस्मात् कामो ह योऽस्य हृदि स्थितः।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते॥'

'कठोपनिषद्' की श्रुति २/३/१४ से उक्त कथन तुलनीय है।

एकान्त-धर्म जो निष्काम-कर्म-मूलक है, यह बाद में स्पष्ट किया जायगा। उससे भी ज्ञात होता है कि एकान्त-धर्म का प्रधान उद्देश्य लोक को सत्वस्थ करना है। इसी से उसे सात्वत धर्म कहते हैं। उसके मत से नारायण के प्रसाद से ही जीव सात्विक होता है (महाभारत, १२/३४८/७३)। अतः वे जीव के सत्व-वृद्धि-कारी हैं। फलतः उन्हें भी 'सात्वत' कहा गया है। 'त्रिकाण्ड-शेष' नामक कोश में यही निरुक्ति वस्तुतः दी गई है।

आचार्य यामुन का मत

आचार्य यामुन ने 'विष्णु-भक्त' के अर्थ में 'सात्वत'-संज्ञा की उपपत्ति सत्व-गुण के सम्पर्क से ही की है ('आगम-प्रामाण्य', पृष्ठ ७४)। उनके द्वारा अनूदित एक स्मृति-वचन में यह उपपत्ति है (वहीं, पृष्ठ ७६)। आचार्य पराशर व नीलकण्ठ ने उसकी और भी अनेक प्रकार की निरुक्तियाँ दी हैं। पराशर-कृत 'विष्णु-सहस्र-नाम-भाष्य' में है—

'सत् ब्रह्म सत्वं, तद्वन्तः सात्वन्तः ब्रह्म-विद्या सात्विका वा; तेषामिदं कर्म-शास्त्रं वा सात्वतं, तत् कुर्वाणास्तदाचक्षणाश्च वा।' अथवा 'सातयति सुखयत्याश्रितान् इति सात् परमात्मा, स एतेषामस्तीति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महा-भागवताः।'

उनमें से किसी का भी जाति से सम्पर्क नहीं है। किसी-किसी पुराण में जाति-वाचक 'सात्वत'—संज्ञा की भी व्याख्या सत्व-गुण के सम्बन्ध में की गई है (वायु-पुराण, २/३३/४७; मत्स्य-पु० ४४।४६-७; कूर्म-पु०, १।२४।३४)।

'पुरुषोत्तम-संहिता' का मत

'पुरुषोत्तम-संहिता' (१।१६.१) में कहा है कि सत्व-स्वरूप हरि द्वारा प्रोक्त कहकर एकायन-वेद 'सात्वत' नाम से कहा गया है। फलतः उसमें कहा धर्म सात्वत-धर्म नाम से अभिहित होता है, ऐसा कहा जाता है। वेद में रुद्र को 'सत्वन लोगों का पति' (सत्वनां पतये नमः) कहा है (राजसं (माध्य), १६।२०)। 'सात्वतां पतिः' शब्द भी इसी प्रकार है।

'विष्णु-संहिता' का मत

'जयाख्य-संहिता' के समान 'विष्णु-संहिता' (२/२६.२-३१/१) के भी मत से, पाञ्च-रात्र-तन्त्रानुसार देव-देव वासुदेव के उपासकों का एक विभाग सात्वत-नाम से अभिहित होता है—'एक-काल या द्वि-काल विष्णु का स्फुट आराधन, क्षत्र-वृत्ति से प्राप्त धन द्वारा कुटुम्ब का पोषण, संग्राम में अनावर्तन और सर्व-शास्त्र में कौशल—जो इन सभी लक्षणों से युक्त हो, उसे सात्वत नाम से कहा है।' इससे यह भले प्रकार ज्ञात होता है कि उसमें कथित सात्वत वैष्णव-गण वृत्ति से क्षत्रिय थे। वे जाति से भी क्षत्रिय थे, ऐसा अनुमान करने का कोई आधार नहीं है।

'कूर्म-पुराण' का मत

'कूर्म पुराण' (१/२४/३०-३) में सात्वत-धर्म नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नई कथा वर्णित है। कहा है कि यदु-वंश में सत्वत (या सात्वत) नामक एक 'विष्णु-भक्त' प्रतापी राजा था। 'वासुदेवार्चन-रत' उन्हीं महात्मा ने देवर्षि नारद के परामर्श से एक शास्त्र की रचना की। कुण्ड-गोलादि ने उसका आश्रय ग्रहण किया और वे उनके हितावह थे। उनके नामानुसार वे 'सात्वत' नाम से विख्यात हुये। सत्वत द्वारा प्रवर्तित होने से धर्म का नाम 'सात्वत' होना स्वाभाविक है परन्तु कुण्ड व गोल या गोलक जारज पुत्र के नाम हैं--सधवा के जारज पुत्र को 'कुण्ड' और विधवा के जारज पुत्र को 'गोल' या 'गोलक' कहते हैं। विष्णु-भक्त ने उन्हीं के लिये यह धर्म प्रवर्तित किया, इस कथन से प्रतीत होता है कि इस धर्म के निन्दार्थ ही इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती बाद में प्रचारित हुई।

'हरिवंश' का मत

'हरिवंश' (२/३८/३७) में वर्णित है कि यदु-वंशीय राजा सत्वत 'सत्व-वृत्तिर्गुणोपेतः' थे। प्रतीत होता है कि इसी कारण वे 'सत्वत' नाम से ख्यात हुये। जो हो, उनके नाम के अनुसार उनके वंशज 'सात्वत' नाम से स्मृत हुये (वहीं, २/३८/३८)। सत्वत के पुत्र भीम अयोध्या के राजा दशरथ-नन्दन राम के समकालीन थे--'राज्ये स्थिते नृपे तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति, शत्रुघ्नो लवणं हत्वा चिच्छेद स मधोर्वनम्।'—वहीं, २/३८/३९।

'वराह-पुराण' का मत

वैश्य-व्रात्य के औरस से उत्पन्न पुत्र को भी स्मृति में 'सात्वत' कहा है परन्तु उससे विष्णु-भक्त सात्वत का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'वराह पुराण' (२५/८) में कहा है कि 'सृष्टि का विस्तार होने पर महा-बल देव-गण व दैत्य-गण सात्वत-भाव में आस्थित होकर (सात्वतं भावमास्थाय) (परस्पर) विजिगीषु हो युद्ध करने लगे।' यहाँ 'सात्वत-भाव' संज्ञा का प्रकृत तात्पर्य क्या है, यह विचारणीय है।

भगवान् विष्णु के पार्षदों में एक जन का नाम सात्वत है। यह कल्पना की जा सकती है कि सात्वत-धर्म के प्रतिष्ठाता सात्वत ने विष्णु का पार्षदत्व लाभ किया।

'नारायण धर्म' या 'नारायणीय धर्म'

'महा-भारत' एवं '(विष्णु) भागवत पुराण' के मत

प्राचीन-काल में भागवत धर्म कहीं-कहीं नारायण-धर्म या नारायणीय धर्म नाम से भी अभिहित होता था, ऐसा प्रतीत होता है। 'महाभारत' में जैसे 'भागवत धर्म' नाम नहीं है, वैसे ही ये नाम भी वस्तुतः नहीं हैं। '(विष्णु) भागवत पुराण' में भी वे नाम नहीं हैं। 'महाभारत' के शान्ति-पर्व के उप-पर्व-द्वय में इस धर्म की जो कथा वर्णित है, वह एक 'नारायणीय आख्यान' या संक्षेप में 'नारायणीय' नाम से कथित है।

उक्त वर्णन में स्थान-स्थान पर उसे 'नारायण-कथा' (महा-भारत, १२।३४३।२.२, १७.२,३०.१), 'नारायणाश्रय कथा' (वहीं, २२।३४३।३) या 'नारायणीय आख्यान' (वहीं, १२।३४६।१६.१; भगवदाख्यान—३४६।२.२) कहा है। एक स्थल में इस नारायण-कथा को 'धर्म-संहिता' भी कहा है—'त्वया नारायण-कथाः श्रुत्वा वै धर्म-संहिताः' (१२/३४०/४.२)।

'लिङ्ग-पुराण' का मत

इस सबसे सहज ही मन में आता है कि इस धर्म को नारायण-धर्म या नारायणीय धर्म कहा जा सकता है। जो हो, 'लिङ्ग-पुराण' (२/१ /४.१) में इस नाम का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ वर्णित है कि राजा अम्बरीष ने महर्षि मार्कण्डेय से जिज्ञासा की, 'नारायणानां दिव्यानां धर्मानां श्रेष्ठमुत्तमम्' (अर्थात् दिव्य नारायण धर्म-समूह या नारायणीय धर्म-समूह के मध्य श्रेष्ठ और उत्तम) क्या है ?'

उसका उत्तर महर्षि ने दिया, 'भक्ति-पूर्वक नारायण का स्मरण, पूजन और प्रणाम ही नारायणात्मक पुण्य (=धर्म) है (वहीं, २।१।६; और भी—'एष एकान्तिनां धर्मो नारायण-परात्मकः' (महाभा०, १२।३४८।८२.२)। उन्होंने और भी कहा कि एकमात्र उसी के द्वारा नारायण प्रसन्न होते हैं। कौशिक नामक एक ब्राह्मण के दृष्टान्त द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है (लिङ्ग-पु०, २।१ अध्याय)।

सनातन धर्म

'भागवत पुराण' और 'महा-भारत' के मत

भगवान् नारायण ऋषि द्वारा प्रवर्तित धर्म को कहीं-कहीं 'सनातन धर्म' कहा है। '(विष्णु) भागवत पुराण' (७/११/५.१,७।११।२) में यह नाम मिलता है। 'महा-भारत' (१२।३४८।२२) में एकान्त-धर्म को 'सनातन धर्म' कहा है। वर्णित है कि इस धर्म का विनाश नहीं होता; प्रति-कल्प के आदि से यह भगवान् नारायण से उद्भूत होता है और दीर्घ काल के बाद तिरोहित होकर उनमें प्रत्यावर्तन करता है; बाद में कल्प के आदि में पुनः वह उनसे प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार उत्पत्ति-प्रलय-वान् या आविर्भाव-तिरोभाव-युक्त होते हुये भी उसका सम्यक् विनाश कभी नहीं होता।

वैशम्पायन का मत

वैशम्पायन ने जन-मेजय से उपसंहार में कहा, 'एवमेष महान् धर्म आद्यो राजन् ! सनातनः' (हे राजन् ! इस प्रकार यह महान् धर्म 'आद्य एवं सनातन' है)—(महाभा०, १२।३४८।५५.१)।

फलतः इसका 'सनातन धर्म' नाम ठीक ही है। वैशम्पायन ने आगे भी कहा कि यह सनातन एकान्त-धर्म, विशेषतः तृतीय कल्प में—ब्रह्मा के वाचिक जन्म के समय में

'त्रि-सौपर्ण-व्रत' और षष्ठ कल्प में—ब्रह्मा के अण्डज जन्म के समय में, 'ज्येष्ठ-साम-व्रत' नाम से भी ख्यात है (महाभा०,१२।३४८।२१ व ४६ । इन दो नामकरणों का कारण बाद में स्पष्ट किया जायगा । श्वेत-द्वीप में नारद-कृत भगवान् नारायण की स्तुति में है कि नारायण 'प्रथम-त्रि-सौपर्ण, 'ज्येष्ठ-सामग' और 'सामिक-व्रत-धरा' हैं (महाभा०,१२। ३३८।१०५ व १११-२) । नारायण की इन तीन ख्यातियों से एकान्त-धर्म के उक्त दो नामों का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

भागवत धर्म के विभिन्न नाम और इतिहासकार

अब तक हमने भागवत धर्म के विभिन्न नाम-समूह की निरुक्ति व उपपत्ति की आलोचना की है । इससे ये सारे नामकरण क्यों हुये, इसका यथा-सम्भव ज्ञान होता है । ये सब नामकरण कब हुये, उसकी आलोचना करना इतिहास-कार के लिये उचित है । एकान्त-धर्म के 'त्रि-सौपर्ण-व्रत' और 'ज्येष्ठ साम-व्रत' ये दो नाम कब और किसलिये हुये, यह नारायणीयाख्यान में ही वर्णित है । अन्य नाम-समूह का उत्पत्ति-काल, जहाँ तक हम जानते हैं, किसी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं है । आधुनिक लेखकों में से कसो-किसी ने इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है ।

गार्वे का मत

गार्वे ने कहा है कि भागवत धर्म के प्रतिष्ठाता सात्वत-वंशीय वसुदेव व देवकी के पुत्र कृष्ण हैं । कृष्ण के धर्म में परमेश्वर 'भगवत्' नाम से अभिहित हुये । काल-क्रम से इस नाम के साथ-साथ उनके अन्य आख्या-समूह भी प्रचलित हो गये । नारायण पुरुषोत्तम तथा धर्म के प्रतिष्ठाता का पितृज नाम वासुदेव और वैयक्तिक नाम कृष्ण है । इस धर्म-सम्प्रदाय के प्राचीनतम नाम हैं 'भागवत' और 'सात्वत' । सात्वत-नाम की उत्पत्ति कृष्ण के अपने वंश से हुई है । 'पञ्चरात्र' नाम इन दो नामों के बाद का है । यह नाम कहीं-कहीं इस धर्म के एक उप-विभाग-विशेष का बोधक है परन्तु साधारणतः यह 'भागवत' के समानार्थक रूप में व्यवहृत हुआ है [एन. बी. उद्गीकर कृत भगवद्-गीता के अंग्रेजी अनुवाद (बम्बई, १९१८) में गार्वे की भूमिका ।]

ग्रियर्सन का मत

ग्रियर्सन ने भी इसी प्रकार विचार किया है कि भागवत-धर्म के प्रतिष्ठाता कृष्ण-वासुदेव ही हैं । उनके उपास्य देवता 'भगवत्'-नाम से अभिहित होते थे । इसी से इसे भागवत-धर्म कहा गया । कृष्ण की अपनी जाति सात्वत-गण है, यह पहले स्वीकार करें । फिर वह अन्यत्र भी परिगृहीत हो । तब उसी कारण से 'सात्वत' व 'भागवत' शब्द एकार्थ में व्यवहृत हों (इण्डियन ऐण्टिक, १९०८, पृष्ठ २५३) । फलतः उनके मत से 'भागवत-धर्म' आद्य नाम है, 'सात्वत-धर्म' बाद का नाम । 'भागवत-धर्म' का सात्वत-

धर्म नाम सात्वतेतर जातियों ने दिया है क्योंकि उन्होंने सात्वत-जाति से ही 'भागवत-धर्म' को प्राप्त किया था।

लोक-मान्य तिलक का मत

लोक-मान्य तिलक ने कहा है, 'भागवत-धर्म के विभिन्न नामों के सम्बन्ध में इस प्रकार की ऐतिहासिक उपपत्ति दी जा सकती है कि श्रीकृष्ण ने इस धर्म को प्रवर्तित किया, उसके पूर्व प्रतीत होता है कि वह 'नारायणीय' अथवा 'पाञ्चरात्र' नाम से न्यूनाधिक परिमाण में प्रचलित था और बाद में सात्वत जाति के बीच उसका प्रसार होने के बाद उसका नाम 'सात्वत' हो गया, तथा उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन को नर-नारायण का अवतार मानकर लोगों ने इस धर्म को 'भागवत-धर्म' कहना आरम्भ किया (तिलक के 'गीता-रहस्य' का वङ्ग संस्करण, पृष्ठ ५५४)।' इसके पूर्व उन्होंने कहा है, 'पर-ब्रह्म के साक्षात् अवतार नर व नारायण ऋषि इस प्रवृत्ति-मूलक धर्म के प्रथम प्रवर्तक हैं और इसी से इस धर्म का प्राचीन नाम है 'नारायणीय धर्म' (वहीं, पृष्ठ ३४४)। 'श्रीकृष्ण के पहले जनकादि इस पन्था (=वैदिक कर्म-योग पन्था) के अनुसार ही आचरण करते थे किन्तु बाद में भगवान् ने उसमें भक्ति को भी मिलाकर उसका प्रचार अधिक विस्तृत कर दिया, उसी ने 'भागवत-धर्म' नाम पाया' (वहीं, पृष्ठ ३५५)।

इस प्रकार तिलक के मत से 'सात्वत-धर्म' नाम 'भागवत धर्म' नाम से पूर्व था। अतः उनका मत ग्रियर्सन के मत के सर्वथा विपरीत है। 'महा-भारतादि' में जिस प्रकार कृष्ण को, उसी प्रकार नारायण ऋषि को भी 'भगवान्' कहा है। साथ ही उनमें बार-बार यह उल्लेख है कि नारायण ऋषि ही जगत् के कल्याणार्थ कृष्ण-रूप में प्रादुर्भूत हुये हैं। इससे कृष्ण की अपेक्षा नारायण ऋषि का प्राधान्य स्थापित होता है। फलतः 'भागवत-धर्म' नाम की उत्पत्ति मूल प्रवर्तक को 'भगवान्' ख्याति से हुई, यह न कहकर पुनः प्रचारक की 'भगवान्' ख्याति से हुई--ऐसा तिलक ने किस विचार से कहा, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।

'भागवत धर्म' नाम की उत्पत्ति के साथ भक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है।(संस्कृत 'भक्ति'-शब्द 'भज्' धातु से निष्पन्न है। पहले दिखा आये हैं कि 'भगवान्'-शब्द को भी कोई-कोई मूलतः 'भज्' धातु से ही निष्पन्न मानते हैं। इस दृष्टि से 'भागवत'-संज्ञा के साथ 'भक्ति' का सम्बन्ध अवश्य ही है।) अतः भगवान् कृष्ण ने भगवान् नारायण के प्राचीन धर्म में भक्ति को मिलाया था, तिलक के इस अनुमान को सत्य कहकर अभ्युपगम करने पर भी, उनके इस अनुमान को समीचीन नहीं कह सकते कि इसी कारण इसका 'भागवत-धर्म' नाम पड़ा। 'भगवान्' ख्याति नारायण ऋषि या कृष्ण का कोई निज स्व-वैशिष्ट्य नहीं है। प्राचीन काल में ऋषियों को तथा अन्यान्य महद्-व्यक्तियों को प्रायः भगवान् कहा गया है। पहले इसे दिखाया जा चुका है। अतः प्रवर्तक की 'भगवान्'-आख्या से 'भागवत-धर्म' नाम की उत्पत्ति हुई, यह कहना ठीक नहीं लगता। उपास्य

देवता का भगवान् नाम होने से ही धर्म का नाम 'भागवत' पड़ा, यह कहना अधिक सङ्गत है।

रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का मत

राम-कृष्ण गोपाल भाण्डारकर का विचार है कि इस धर्म का आद्य नाम ऐकान्तिक धर्म था, क्योंकि यह एक के प्रति ऐकान्तिक प्रेम व भक्ति का धर्म है। अनतिकाल में इसने साम्प्रदायिक रूप ग्रहण किया और पाञ्चरात्र या भागवत धर्म नाम से अभिहित होने लगा। सात्वत नामक एक क्षत्रिय जाति से यह निबद्ध था और ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के शेष भाग में मेगास्थिनिस ने इस प्रकार एक जाति-विशेष का ही धर्म कहकर इसका उल्लेख किया है (आर. जी. भाण्डारकर, वैष्णविज्म आदि, पृष्ठ १४२)।

विविध मतों का समाधान

जिस प्रकार 'पाद्म संहिता' में, उसी प्रकार सभी मनीषि-गण ने यह स्वीकार किया है कि पूर्वोक्त सभी नाम एक ही धर्म के हैं। ऐसा स्वीकार करने के साथ उन्हें यह भी निरूपण करना चाहिये था कि किस-किस काल में किस-किस कारण से या किस-किस दृष्टि से इस धर्म के कौन-कौन नामकरण हुये। परन्तु उनका मूल आनुमानिक सिद्धान्त सत्य है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रकृत तत्त्व अन्य प्रकार है, यही मन में आता है। भगवान् नारायण ऋषि का धर्म कालान्तर में स्वल्प विस्तार से रूपान्तरित हुआ। समय-समय पर उससे शाखा एवं प्रशाखा और सम्प्रदाय भी निर्गत हुये, इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। महावीर, बुद्ध, मूसा, ईसा आदि ऐतिहासिक नामों से परिगणित महापुरुषों के धर्म-समूह में से प्रत्येक के मध्य ये सभी परिवर्तन, तथा विभिन्न सम्प्रदाय व उप-सम्प्रदाय-भेद हुये हैं। सामान्यतः ये परिवर्तन व सम्प्रदाय-भेद किसी भी धर्म के पक्ष में अपरिहार्य व स्वाभाविक ही प्रतीत होते हैं। नारायण के धर्म के भेदोपभेद-समूह की आलोचना बाद में यथा-सम्भव की जायेगी। अभी विशेष यही कहना चाहता हूँ कि पूर्वोक्त नाम-समूह में कौन-कौन सम्प्रदाय-समूह की शाखा या प्रशाखा हैं और कौन नहीं—मूल धर्म की नहीं। मूल धर्म भी अवश्य दृष्टि-भेद से एकाधिक नामों से अभिहित होता है।

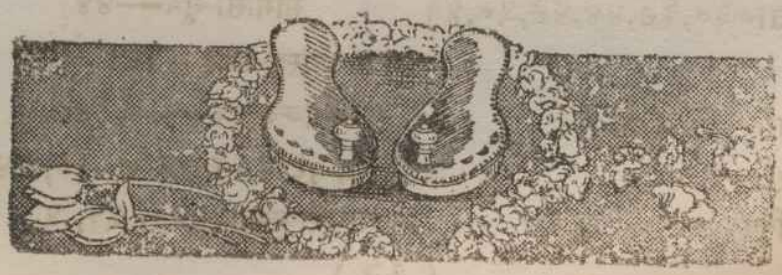

परिशिष्ट

उद्धृत ग्रन्थों की तालिका

अग्नि-पुराण—६, ७, ८, १०, १४
अत्रि-संहिता——४२
अथर्व-वेद—१२
अथर्व-शिरः श्रुति—८, १०
अथर्व-शिरोपनिषत्—१०
अथर्व-संहिता—३, ४, ५, ६, ११, १२
अभिसमयालङ्कारालोक—६, १२
अमर-कोष——१, ३६, ३७, ४२
अर्थ-शास्त्र—३५
अल्बेरूनीज इण्डिया—४५
अष्टाध्यायी महा-व्याकरण—४४
अष्टोत्तरोपनिषत्——२३
अहिर्बुध्न्य-संहिता—७, ८, ८, ११, ४१-४३, ४८, ५०, ५१
आगम-प्रामाण्य——१८, ५६
आनन्द-संहिता—२०
आँन शिव भागवत इन पातंजलि महा-भाष्य——१४
आस्पेक्ट्स आफ महा-यान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टु हीनयान——३४
इण्ट्रोडक्शन टु दि 'पञ्चरात्र'—३८, ४०, ४३
इण्डियन ऐण्टिक——५८
इण्डियन फिलासफी——४३
इण्डियन एर्यन रेसेज—५२
ईश्वर-संहिता—३०, ३८, ४४, ४८, ५०, ५१

ऋक् संहिता—३, ४, ५, १२
ऋग्वेद—५, ३६, ४६
ऐतरेय उपनिषद्——१०

कठोपनिषद्——५५
कपिञ्जल-संहिता—१३, ३७
कूर्म-पुराण——५५-५७
कृष्ण-स्तव—५२
गरुड़-पुराण—१३, १४, १८, २६
गीता—१०, २८, २७
गीता-रहस्य—४१, ५२, ६०
गीतार्थ-संग्रह—२८
चैतन्य-चरितामृत——२
छान्दोग्योपनिषद्——५, १०, १२
जयाख्य-संहिता——२०, २४, २७, २८, ३५, ३७, ४२, ५४, ५६
ज्ञान-संहिता——४, १४, १६
तत्त्व-त्रय——८, ४२, ४३, ५०
तैत्तिरीय-ब्राह्मण—४-६, ११, १२, ४५
तैत्तिरीयारण्यक—२३
ताण्ड्य-महा-ब्राह्मण——४५
ताण्ड्य-माहात्म्य——४५
त्रिकाण्ड-शेष (कोष)——५६
दश-भूमि शास्त्र——६
दि नारायणीय एण्ड दि भागवताज—५२
दीर्घ-निकाय—३३
देवी-भागवत पुराण—८, १२, १४, २८
द्वादशाध्यायी या द्वादश-लक्षण पूर्व-मीमांसा-सूत्र——४४
धर्म-शास्त्र-संग्रह—१८
नारद-पञ्चरात्र——४०, ४७
नारद-पुराण—६, ७, ८, १०, १४, १६, १८
नारायणीयाख्यान—४८, ५१, ५७, ५८

नारायणोपनिषद्—२३
निघण्टु—४७
नित्य-ग्रन्थ—२६
निरुक्त—३, ५
पञ्चरात्र—५०
पद्म-पुराण—३, १०, १८, २२-२४, २६, ५४, ५५
परम संहिता—१८, २८, ३७-३६
परम पुरुष संहिता—३६
पाञ्चरात्र-रक्षा—१६, २०, २६, ३६
पाञ्चरात्र-संहिता—६, ८, १३
पाणिनि-सूत्र—१४
पातञ्जलि-महा-भाष्य—१४
पाद्म-संहिता—१४, १७, १८, २५, ३६, ३७, ५०, ६१
पारमेश्वर संहिता—३२
पुरुष-सूक्त—४३
पुरुषोतम-संहिता—३२, ३६, ५६
पौष्कर संहिता—२८, ३५, ३७, ४२
प्रकीर्णाधिकार—२१
प्रोस०, सेकेण्ड ओरियण्ट कान्फरस—५५
बौद्ध सूत्र-पिटक—३३
ब्रह्म-पुराण—४, ७, १६, ४०, ४७
ब्रह्म-वैवर्त पुराण—१२
ब्रह्म-सूत्र—६, १०, १३, ४४
भगवद्-गीता का अंग्रेजी अनुवाद (गार्वे)—५६
मज्झिम निकाय—३३
मत्स्य-पुराण—५६
मध्यय-निकाय—३३
मनु-स्मृति—१८
महा-भारत—४, ६, ६, १०, १३, १४, २३, ५५, २७, २६, ३२, ३४, ३६, ३७, ४०-४४, ४६-६०
महा-यान सूत्रालङ्कार—३३, ३४
महा-सनत्कुमार संहिता—३६, ४४
महोपनिषद्—५०
माण्डूक्योपनिषद्—४८
माध्यन्दिन संहिता—३, ५, ७
मुक्तिकोपनिषद्—१४
मुद्गलोपनिषद्—२३, ४३
यज्ञाधिकार—२१
रहस्याम्नाय—५०
राजसनेयि संहिता (माध्य०)—५६
रामायण—६
रामोत्तर-तापिनी उपनिषद्—१४
रुद्र-सूक्त—१०
लङ्कावतार-सूत्र—३३, ३४
ललित-विस्तर—३४
लक्ष्मी-तन्त्र—८
लिङ्ग-पुराण—३, ४, १०, १४, १८, २३, ५८
वराह-पुराण—१४, ५५, ५७
वाजसनेयि संहिता (माध्य०)—४, ६, १०, ११
वायु-पुराण—३, ११, ५६
विद्येश्वर संहिता—३
विष्णु-तन्त्र—३८
विष्णु-धर्मोत्तर पुराण—१२
विष्णु-पुराण—४, ६, ७, ६, १०, ११, ३१, ३२
(विष्णु) भागवत पुराण—१, २, ४, ६, ६ १०, ११, १४, २४, २५, २७, ४३, ५२, ५७, ५८
विष्वक्-सेन संहिता—४३, ५०
विहगेन्द्र-संहिता—३६, ४४
वेदान्त-कल्पतरु-परिमल—२२
वैखानसागम—४०
वैजयन्ती—१८, २६
वैदिक इण्डेक्स—३६

वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स--५२, ६१
वृद्ध गौतम-संहिता--१८
वृद्ध हारीत-संहिता--३०
वृद्ध हारीत-स्मृति ६, १०
वृहज्जातक--१८
वृहत् ब्रह्म-संहिता-२०,२४,३१,३२
वृहत्-संहिता--१७
वृहद्-देवता--३
वृहद्-धर्म-संहिता--३०
वृहद् हारीत स्मृति--२१, ४५
वृहदारण्यक उपनिषद्--१२
शक्ति-सङ्गम तन्त्र--४१ ४५
शतपथ ब्राह्मण--३, ७, ४३, ४४
शब्द-कल्पद्रुम--६, १८, २३, २५
शाङ्खायन-गृह्य-सूत्र--४
शाण्डिल्य-संहिता--३१, ४१
शिव-पुराण--४, ७, १०, १४-१६
शिव सहस्रनाम स्तोत्र--१३
शुक्ल यजुर्वेद संहिता--२३
श्वेताश्वतर उपनिषद्-७, ११
श्रीप्रश्न-संहिता--३०, ३६
श्री-भाष्य--४१
श्रुति--६, ११, ३६, ४४
सद्धर्म-पुण्डरीक--३३, ३४
सनत्-कुमार सहिता--७
सात्वत-तन्त्र - ६
सात्वत-संहिता--३७
साम-विधान ब्राह्मण ४६
साम्ब पुराण--५, ६
सूत-सहिता--१८
सौर पुराण--१०
स्कन्द-पुराण--४, १३, १५, १६, १६, २५, २६
स्पन्द-प्रदीपिका--६, ८, ११
स्मृति-समुच्चय--२१, ३०
स्वतन्त्र तन्त्र--८
हरिवंश--५२, ५७
हिन्दुस्तान रिव्यू--४३

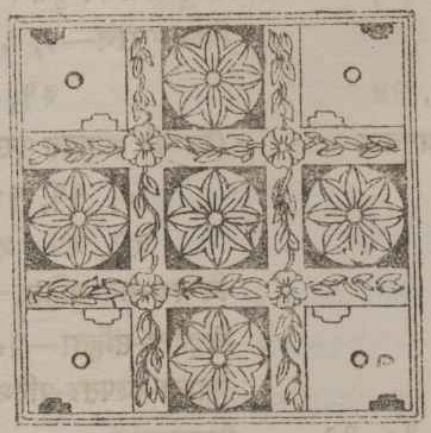

शाक्त-धर्म

सम्बन्धी

प्रामाणिक पुस्तकों के लिये

सम्पर्क करें

चण्डी कार्यालय

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग–६

सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक

श्री ऋतशील शर्मा, परावाणी प्रेस, इलाहाबाद–६